UNIVERSAL LIBRARY
OU_186536
UNIVERSAL LIBRARY

—4-4-69—5,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

H049.9143 Accession No. P. G. H2831
V13N

वाजपेयी, नन्ददुलारे तथा रामलाल सिंह संपा·
निबन्ध निचय·

ook should be returned on or before the date last marked below.

# निबन्ध-निचय

संपादक

नन्ददुलारे वाजपेयी, एम० ए०

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, सागर-विश्व-विद्यालय

तथा

रामलाल सिंह एम० ए०, साहित्यरत्न

प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, सागर-विश्वविद्यालय, सागर

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

Printed and Published by K. Mittra,
at The Indian Press, Ltd., Allahabad.

# अनुक्रम


| | पृष्ठ |
|---|---|
| १—श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी—समालोचना का सत्कार | १ |
| २—,, सरदार पूर्णसिंह—पवित्रता ... ... | ८ |
| ३—,, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी—पुरानी हिन्दी ... | ३६ |
| ४—,, श्यामसुन्दरदास—भारतीय साहित्य की विशेषताएँ | ५३ |
| ५—,, रामचन्द्र शुक्ल—श्रद्धा-भक्ति ... | ६६ |
| ६—,, माखनलाल चतुर्वेदी—रंगों की बोली (पत्र) | ६६ |
| ७—,, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी—आधुनिक युग | ११० |
| ८—,, राहुल सांकृत्यायन—हिन्दी-उर्दू का प्रश्न (अभिभाषण से) ... ... ... | १२० |
| ९—,, नन्ददुलारे वाजपेयी—अभिव्यंजनावाद ... | १४५ |
| १०—,, हजारीप्रसाद द्विवेदी—अशोक के फूल ... | १५५ |
| ११—,, सियारामशरण गुप्त—बहस की बात ... | १६६ |
| १२—,, सुन्दरलाल त्रिपाठी—शरच्चन्द्र (दैनन्दिनी से) | १७३ |
| १३—श्रीमती महादेवी वर्मा—घर और बाहर ... | १८३ |
| १४—,, श्री जैनेन्द्रकुमार—युद्ध की जगह शान्ति का उद्योग | १६४ |
| १५—,, सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'—रूढ़ि और मौलिकता ... ... | २०४ |
| १६—,, शिवदानसिंह चौहान—प्रगतिवाद ... | २२४ |
| १७—,, हरिशंकर शर्मा—चहचहाता 'चिड़ियाघर' ... | २३५ |
| १८—,, डा० रामविलास शर्मा—रिपोर्ताज ... | २५२ |


---

# समालोचना का सत्कार

[ पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ]

किसी कवि का वचन है —

अद्यापि दुर्निवारं स्तुतिकन्या वहति कौमारम् ।
सद्भ्यो न रोचते साऽसन्तोऽप्यस्यै न रोचन्ते ॥

अर्थात् स्तुतिरूपिणी कन्या, जब से उत्पन्न हुई तब से आज तक, यद्यपि बहुत युग बीत चुके, बेब्याही ही बनी हुई है। उसके विवाह की नौबत ही नहीं आई। उसका कौमार-भाव दुर्निवार-सा है। उसके विवाह की कुछ भी आशा नहीं, क्योंकि जो भले आदमी हैं उनको वह पसन्द नहीं, और जो भले नहीं उन्हें वह खुद ही पसन्द नहीं करती।

परन्तु अब वह समय लगा है कि स्तुति-कन्या के कौमार-भाव का हरण बलपूर्वक करने की इच्छा रखनेवाले पैदा हो गये हैं। स्तुति की प्राप्ति के लिए वे उस पर दारुण अत्याचार तक करने को तुले बैठे हैं। मनु ने जिन विवाहों का निर्देश अपनी स्मृति में किया है उनमें से, ये स्तुति-लोलुप लोग. उसके साथ वह विवाह करके अपनी कामना पूर्ण करना चाहते हैं जिसमें कन्या रोती है, चीखती है, छाती पीटती है, परित्राण की याचना करती है, पर उसकी एक नहीं सुनी जाती; विवाहेच्छु उसे बलात् अपने घर खींच ले जाना चाहते हैं। ग्रंथकारों के कुछ गुरु,

समालोचना के लिए अपने ग्रंथरत्न भेज-भेजकर समालोचकों से इसी तरह की स्तुति प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। यदि वह मिल गई तो बड़े खुश। उसकी नकल वे विज्ञापनों के भीतर रखकर छपा डालेंगे, उसी पुस्तक के पीछे लगा देंगे, अपनी पुस्तकों के सूचीपत्र में उद्धृत कर देंगे। समालोचना में यदि कुछ बातें प्रतिकूल हुईं तो उन्हें अवश्य निकाल देंगे। सचाई से भी कुछ सरोकार रखना हुआ तो उन प्रतिकूल बातों की जगह तार का—चिह्न रख देंगे। बहुत कम लोग, शायद सौ में से एक ऐसे होंगे जो सच्ची समालोचना—चाहे वह भली हो, चाहे बुरी—सुनने के इरादे से अपनी पुस्तकें समालोचकों के पास भेजते होंगे। अब तो कुछ लोग ऐसे भी पैदा हो गये हैं जो अपनी पुस्तक की भूमिका में, कभी अपने ही नाम से और कभी प्रकाशक के नाम की आड़ से, यहाँ तक लिख देते हैं कि यदि समालोचकों की क्रूर दृष्टि इस पुस्तक पर पड़ी तो लेखक का सारा उत्साह भंग हो जायगा; फिर वह और कोई पुस्तक न लिख सकेगा। उत्साह भंग न हुआ तो वह हिन्दी साहित्य के भांडार को लाल और हीरक-रत्नों से छत तक ठसाठस भर देगा। मतलब यह कि पुस्तक के पाठ से किसी का समय नष्ट ही क्यों न हो जाय, हर्ज नहीं। उससे दुराचार की वृद्धि ही क्यों न हो, हर्ज नहीं। उसमें भ्रमों और भूलों का अतिरेक ही क्यों न हो, हर्ज नहीं। तारीफ ही किये जाओ; स्तुति-पाठ ही करते चलो। तभी ये लोग सन्तुष्ट हो सकते है।

सच्चे दिल से लिखी गई प्रतिकूल समालोचना सुनकर उससे लाभ उठानेवाले लेखक बहुत ही कम हैं। कुछ में इतना आत्मबल भी होता है कि ऐसी समालोचना से वे मन ही मन कुढ़ तो जरूर जाते हैं, पर मुँह से कुछ नहीं कहते। परन्तु ऐसे भी उदार-हृदय और आत्मसंयमशील पुरुष-पुङ्गवों की कमी नहीं

जिनको अपनी पुस्तक की प्रतिकूल आलोचना का एक शब्द भी सहन नहीं होता। वे उसका तीव्र प्रतिवाद करते हैं—कभी अपने ही नाम से करते हैं, कभी बनावटी नाम से। कभी कभी वे अपने मित्रों, मिलनेवालों और पार्षदों से भी प्रतिवाद कराते हैं। ये लोग प्रतिकूल आलोचना के एक-एक शब्द का प्रतिवाद करते हैं; समालोचकों के स्वयं समालोचक बन जाते हैं—उलटा उन्हीं की अशुद्धियाँ दिखाने की चेष्टा करते हैं, उन पर ईर्ष्या-द्वेष का आरोप करते हैं, उनकी दिल्लगी उड़ाते हैं और कहते हैं कि इसने यह समालोचना लिखकर पुरानी दुश्मनी का बदला लिया है। यह सब करके अपनी पुस्तक के विषय में कुछ-कुछ इस प्रकार की प्रशंसा प्रकाशित करते हैं—

मेरी पुस्तक गवर्नर-जनरल रोज सिरहाने रखकर सोते हैं। मेरी पुस्तक सेक्रेटरी आव् स्टेट अपनी मेज पर आईने के सदृश सामने रखते हैं। मेरी पुस्तक के पाठ से तेंतीस कोटि मानवों का कल्याण हुआ है। मेरी पुस्तक के अष्टोत्तरशत संस्करण छप चुके हैं; उसका प्रचार कुरान, बाईबिल और रामायण से भी बढ़कर है। मेरे उपन्यास में अकबर और औरंगजेब के जमाने के ऐतिहासिक तत्त्व भरे पड़े हैं। समालोचक ने उसे साद्यन्त पढ़े बिना ही समालोचना लिख मारी है।

ये सज्जन-शिरोमणि साहसी, सत्यव्रत और सरल स्वभाव इतने होते हैं कि यह सारा गांधर्वगान बहुधा घूँघट की ओट ही से करते हैं। आपका नाम-धाम मालूम हो जाय तो आपकी अपार ज्ञान-राशि से दो-चार कण प्राप्त करने के लिए, आपके ज्ञानागार के द्वार पर, कहीं जन-समुदाय न उमड़ आवे! कोई इनसे पूछे कि यदि आपकी पुस्तक इतनी लोकोत्तर थी तो टुट-पुँजिये समालोचकों के पास आपने उसे समालोचनार्थ भेजा क्यों? इनमें से कुछ की उदारता का तो यह हाल है कि जो

समालोचक उनका चरित-गान श्रवण कराने में सहायक हो और जो उनकी विद्वत्ताव्यंजक महती मूर्ति दिखाता फिरे उस पर भी ये ईर्ष्या-द्वेष का दूषण निःसंकोच होकर, अपने पार्षदों की आड़ से, केवल इस कारण लगा देंगे कि उसने, अपनी मति के अनुसार, इनकी दो-एक भूलें दिखा दीं !

बृहस्पति को भी बारह वर्षों तक बारहखड़ी की बारीकी बताने की योग्यता रखनेवाले ये अहम्मानी महाशय न्याय, नीति, सदाचार और सचाई सबको एक साथ तिलाञ्जलि दे देते हैं। प्रतिकूल समालोचना पढ़ते ही इनके हृदय में उच्चता, योग्यता, श्रेष्ठता, आत्ममर्यादा और प्रखर पांडित्य के पानी की प्रबल धारा-सी बहने लगती है। अच्छा, समालोचक के मुकाबले में इनके अहम्भाव और उच्चत्व की इयत्ता की जाँच तो कीजिए। लेखक या प्रकाशक क्यों किसी पुस्तक को "समालोचनार्थ" भेजता है ?

( क ) या तो इसलिए कि पुस्तक के गुण-दोष उसे मालूम हो जायँ;

( ख ) या इसलिए कि समालोचना के रूप में पुस्तक का विज्ञापन प्रकाशित हो जाने से उसकी कुछ कापियाँ बिक जायँ, और, इस तरह, कुछ टके वसूल हों;

( ग ) या इसलिए कि पुस्तक की प्रशंसा प्रकाशित होने से लेखक की यशोवृद्धि हो।

यदि ( क ) कारण से पुस्तक भेजी गई तो मानो भेजनेवाले ने, भेजने के साथ ही, समालोचक को विद्या, योग्यता, साहित्य-ज्ञान और अनुभव आदि में अपने से बढ़ा-चढ़ा नहीं, तो सदृश अवश्य स्वीकार कर लिया। क्योंकि यदि समालोचक ऐसा न होगा तो वह पुस्तक के गुण-दोष दिखा कैसे सकेगा। ऐसे ही समालोचक की समालोचना की प्रतिकूल सम्मति पढ़कर जो

लोग उस पर तत्काल ही आक्रमण करते हैं तो इस कार्य से अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाते तो नहीं, उसका समूल नाश अवश्य करते हैं। जिससे अभी कल तक कुछ सीखने की इच्छा रखते थे उसी को आज सिखाने की चेष्टा करनेवाले मनुष्य समाज में किस दृष्टि से देखे जाते हैं और किन आन्तरिक भावों की प्रेरणा से वे ऐसा निन्द्य काम करते हैं, इसके विवेचन की आवश्यकता नहीं।

यदि समालोचना के लिए पुस्तक भेजने का कारण ( ख ) है तो समालोचक दाता नहीं तो उपकारकर्त्ता, और भेजनेवाला याचक हुआ। और, जो लोग याचक बनकर किसी के द्वार पर जाते हैं उनकी उच्चता, प्रतिष्ठा और आत्म-मर्यादा की मात्रा ही कितनी! यही लोग भिक्षा-प्राप्ति में विफल-मनोरथ होने पर यदि समालोचक को सदाचार, योग्यता, सत्यता और आत्म-गौरव का सबक सिखाने चलें और निर्मूल आक्षेपों द्वारा उसकी निन्दा करते फिरें तो समझ लेना चाहिए कि भगवान ने इन्हें भीख माँगने की भी बुद्धि नहीं दी, पुस्तकें लिखकर दूसरों का कल्याण करने की बुद्धि तो बहुत दूर की बात है। चुटकी मिल गई तो—"दाता की जय हो!"—न मिली तो कोसते हुए चल दिये।

यदि पुस्तक भेजने का कारण ( ग ) है तो भी भेजनेवाले का यह कार्य उसकी उच्चता और उदारता का सूचक नहीं। जो मनुष्य कोरी प्रशंसा की प्राप्ति ही के लिए दूसरों का दर्वाजा खटखटाता है वह भी एक प्रकार का याचक है और बहुत बुरा याचक है। कोई भी उच्चाशय सज्जन प्रशंसा-प्राप्ति के लिए चेष्टा नहीं करता। प्रशंसनीय काम करने से कीर्ति और प्रशंसा स्वयं ही उसे प्राप्त होती है; उनकी प्राप्ति के पीछे दौड़ लगाने से तो उलटी अपकीर्ति होती है—महात्माओं का तो यही मत है; लोकोत्तर-ग्रन्थकारों का अलबत्ते नहीं।

इन तीनों में से किसी भी कारण से प्रेरित होकर जो लेखक या प्रकाशक समालोचना के लिए पुस्तक भेजता है वह न्याय और सदाचार, दोनों दृष्टियों से, समालोचक के कृपा-कटाक्ष की अभिलाषा रखता है। इस दशा में उसका गौरव समालोचक के गौरव की बराबरी कदापि नहीं कर सकता। स्थिति इस प्रकार की होने पर भी जो लेखक या प्रकाशक, समालोचक की प्रतिकूल सम्मति सुनकर, प्रत्यक्ष या परोक्ष-भाव से उस पर आक्रमण करते हैं और अपने अहंकार की हुंकृति का नाद सुनाते हैं वे अपने को उपहास और तिरस्कार का पात्र मात्र बनाते हैं। अपना उपकार होने की आशा से पहले तो पुस्तक भेजना, फिर समालोचक की सच्ची समालोचना पढ़कर, उस पर ईर्ष्या और द्वेष का आरोप करना, कुटिलता और हृदय की कलुषता की पराकाष्ठा है। जहाँ कहीं ईर्षा और द्वेष के भाव जागरूक होते हैं, वहाँ उनके कारण प्रायः पहले ही से विद्यमान होते हैं जिससे जो ईर्ष्या करता है उसे बहुत करके यह ज्ञात रहता है कि इस ईर्ष्यालु मनुष्य की ईर्ष्या का यह कारण है। इस दशा में कोई भी समझदार आदमी ईर्ष्यालु और द्वेषदुष्ट समालोचक के पास अपनी पुस्तक समालोचना के लिए नहीं भेजता। जहाँ ऐसी स्थिति नहीं—जहाँ ईर्ष्या-द्वेष के कोई कारण नहीं—वहाँ भी अपनी पुस्तक के विषय में अनुकूलता के साथ आंशिक प्रतिकूलता देखते ही, जो आदमी समालोचक पर ईर्ष्या-द्वेष की स्थापना करता है वह केवल अपनी विकार-विकसित बुद्धि का परिचय देता है। क्योंकि उसे इतना भी ज्ञान नहीं कि जिस सम्मति को वह ईर्ष्या-जनित समझता है वह किसी की सच्ची सम्मति भी हो सकती है। ऐसे विक्षिप्त-चित्त लेखक, प्रकाशक या उसके वकील की जल्पना का सबसे बड़ा उत्तर उपेक्षा ही हो सकता है। यदि कोई समालोचक किसी से उसकी पुस्तक

माँगकर या उसे मोल लेकर उसकी प्रतिकूल समालोचना करे तो, किसी अंश तक, यदि और कारण विद्यमान हो तो, उस पर ईर्ष्या द्वेष का इलजाम लगाया भी जा सकता है। पर जो ऐसा नहीं करता और जिसके पास पुस्तकाधिकारी स्वयं ही, अपने हित के लिए, समालोचनार्थ पुस्तक भेजता है, उस पर वैसा इलजाम लगाना उच्चता का उलटा भाव प्रकट करना है। जिसे आप ईर्ष्यालु समझते हैं उससे आप समालोचना चाहते क्यों हैं? पुस्तक माँगने के लिए, अर्जी लेकर, वह आपकी ड्योढ़ी, आपके बँगले, आपके छापाखाने के द्वार पर तो गया ही नहीं!

हमारे ये विचार सभी लेखकों, सभी प्रकाशकों. और सभी पुस्तकाधिकारियों के विषय में चरितार्थ नहीं। जो लोग पूर्वोक्त प्रकार का व्यवहार करते हैं, हमारी कैफियत उन्हीं के लिए है। जिनकी यह समझ है कि "सरस्वती" का समालोचक ईर्ष्या-द्वेष का कीड़ा, अहंकार का अवतार और बिना पढ़े ही कुछ न कुछ लिख मारनेवाला है उनसे हमारी प्रार्थना है कि माँगने पर भी, वे, कभी भूलकर भी, अपनी पुस्तक समालोचना के लिए उसके पास न भेजें। वे अपनी चमकदार सारावली और हारावली, माला और मयूख, निशाकर और दिवाकर की मंजु मरीचियों का संवरण किये रहें। हमें अंधकार ही में पड़ा रहने दें। ज्ञानालोक की अनिवार्य आवश्यकता होगी तो हम उनकी पुस्तक मोल लेकर पढ़ लेंगे।

# पवित्रता

[ सरदार पूर्णसिंह ]

## ब्रह्मकांति

अनेक सूर्य आकाश के महामण्डल में घूम रहे हैं, अनंत ज्योति इधर उधर और हर जगह बिखेर रहे हैं। सफेद सूर्य, पीले सूर्य, नीले सूर्य और लाल सूर्य, किसी के प्रेम में अपने अपने घरों में दीपमाला कर रहे हैं। समस्त संसार का रोम रोम अग्नियों की अग्नि से प्रज्वलित हो रहा है। परमाणु ब्रह्मकांति से मनोहर रूपों में सजे हुए, ज्योति से लदे हुए, जगमग कर रहे हैं। परमाणु सूर्य-रूप हो रहे हैं और सूर्य परमाणु-रूप है। सुन्दरता सारी लज्जा को त्याग, घर-बार छोड़, अनंत पर्दों को फाड़ खुले मुँह दर्शन दे रही है। बालकों, नारियों और पुरुषों के मुखों की लाली और सफेदी झड़ रही है। गुलाब, सेब और अंगूर के नरम नरम और लाल लाल कपोलों से फूट फूटकर निकल रही है। प्रातः-काल के रूप में सिर पर नरम नरम और सफेद सफेद रुई का टोकरा उठाये हुए किस अंदाज से वह आ रही है। सायंकाल होते अपने डुपट्टे के सुर्ख फूलों से फिर कुल संसार से होली खेलती हुई वह जा रही है। झरनों, चश्मों और नदी-नालों में नाच रही है। हिमालय की बर्फों में लोट रही है। सजे-धजे जंगल और रूखे-सूखे बियाबानों की सनसनाहट में लोट रही है। युवती कन्या के रूप में जवानी की सुगंध फैलाती हुई वही चल रही है। नरगिस ( एक फूल ) की आँख में किस भेद से छिपी हुई है कि प्रत्यक्ष दर्शन हो रहे हैं। बालक की बोलचाल में,

चेहरे में, क्या झाँक-झाँककर सबको देख रही है। खुला दरबार है। ज्योति का आनद-नृत्य सब दिशाओं में हो रहा है। मीठी वायु दर्शनानंद से चूर हो मारे खुशी के लोटती-पोटती, लड़खड़ाती, नाचती चली जा रही है। इस ब्रह्मकांति के जोश में बादल गरज रहे हैं। बिजली चमक रही है। अहाहा! सारा संसार कृतार्थ हुआ। जाग उठा। हाथी चिंघाड़ रहे हैं, दौड़ रहे हैं। शेर गरज रहे हैं, कूद रहे हैं। मृग फलाँग मार रहे हैं। कोयल और पपीहे, बटेर, बए ( बया ), कुमरी और चंडूल नंगे हो नहा रहे हैं। दर्शन दीदार का पा रहे हैं। तीतर गा रहे हैं। मुर्ग अपनी छाती में आनंद को पूरा भरकर कूक रहे हैं। ई, ई, ऊ, ऊ, कू, कू, हू, हू में वेदध्वनि, ओ३म् का आलाप हो रहा है। पर्वत भी मारे आनंद के हवा में उछल उछल नीले आकाश को फाँद रहे हैं। बदरीनाथ, केदारनाथ, जमनोत्तरी, गङ्गोत्तरी, कंचनजंगा की चोटियाँ हँस रही हैं। वृक्ष उठ खड़े हुए हैं। इन सब की संध्या हो चुकी है।

था जिनकी खातिर नाच किया जब मूरत उनकी आएगी।
कहीं आप गया कहीं नाच गया और तान कहीं लहराएगी॥

अर्थात् सबकी नमाज कजा हो गई। प्यारा नजर आया। सबकी ईद है। ब्रह्मर्षि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" पुकार उठा, चीख उठा, योगनिद्रा खुल गई। ब्रह्मकांति के आकर्षण ने दसवाँ द्वार फोड़कर प्राणों को अपनी ही गति फिर दे दी। मारे परमानंद के हृदय बह गया। यहाँ गिर गया, वहाँ गिर गया। अत्यंत ज्योति के चमत्कार से साधारण आँखें फूट गईं। प्रेम के तूफान ने सिर उड़ा दिया। हवनकुंड से स्याह, नीले रंग का ब्रह्म, कमलों से जड़ा हुआ ब्रह्म, मोतियों से सजा हुआ किसी ने कन्धों पर रख दिया। ब्रह्मयज्ञ हो चुका। मनुष्य-जन्म सफल हुआ। जय! जय!! जय!!! भक्त की जिह्वा बंद हो गई। बाहु पसार जा मिला। कुछ

न बोल सका। कुछ न बोला, ब्रह्म-कांति में लीन हो गया। उसके सितार के तार टूट गये। नारद की वीणा चुप हो गई। कृष्ण को बाँसुरी थम गई। ध्रुव का शंख गिर पड़ा। शिव का डमरू बंद हो गया! महात्मा पंडितजी जा रहे हैं। पुस्तकों से लदा छकड़ा साथ जा रहा है। परन्तु पंडितजी इन अमूल्य पुस्तकों को, छकड़े समेत, अपने सिर पर उठाये हुए हैं। वह क्या हुआ? क्या नजर आया? अमूल्य पुस्तकें—वेद, दर्शन इत्यादि— पंडित जी के सिर से गिर पड़ीं? छकड़ा लड़खड़ाता गङ्गा में बह गया। सब कुछ जल में प्रवाह कर दिया। पंडितजी का साधारण शरीर वायु में मानो घुल गया। नाचने लग गये। चाँद के साथ, सूर्य के साथ, हाथ पकड़े। नृत्य करते हुए वायु समान समुद्र की लहरों में ब्रह्मकांति के साथ जा मिले।

हल चलाता चलाता किसान रह गया। बकरी, भैंस चराता चराता—वह और कोई भी उसी तरह लीन हुआ। जूते गाँठता गाँठता एक और कोई दे मरा। भोग-विलास की चीजें पास पड़ी हैं। ऊँचे महलों से निकल, सुनहरे पलँगों से गिर वह रेत में कौन लोट गया! सिर से ताज उतार नंगे सिर, नंगे पाँव वह अलख कौन जगाता फिरता है? मोर-मुकुट उतार सिर पर काँटे धरे शूली की नंगी धार पर वह मीठी नींद कौन सा राम का लाड़ला सोता है? तारों की तरह कभी मैं टूटा और कभी तू टूटा! कभी इसकी बारी और कभी उसकी बारी आई। मीराबाई ब्रह्मकांति का अमूल्य चिह्न हो गई। गार्गी ने ब्रह्मकांति की लाट को अपनी आँख में धारण किया। वेद ने ब्रह्मकांति के दर्शनरूप को अपनी आँख में ले लिया।

हाय! ब्रह्मकांति के अनंत प्रकाश में भी मेरे लिए अँधेरा हुआ! अत्यंत अत्याचार है—गङ्गाजल तो हो शीतल, परन्तु मेरा मन अपवित्रता के भावों से भरा हुआ मार्गशीर्ष और पौष

की ठंढी रातों में भी अपने काले काले संकल्प के नागों से डसा हुआ जल रहा हो, तड़प रहा हो ! अपवित्रता का पर्दा जब आँख पर आ जाय तो भला किस तरह देखे कोई ? हिमालय की बर्फ हो शुद्ध सफेद और मेरा मन काला ! हरी हरी घास भी हो नरम और मेरा दिल हो कठोर ! पत्थर, रेत, कुश, जल ये भी हों पवित्र, पर इन जैसी भी न हो मेरी स्थिति ! फूल भी हो सुगन्धित, मिट्टी भी हो सुगन्धित, पर मेरे नेत्र और वाणी और अन्य अंग हों दुर्गन्धित ? पत्थरों के पहाड़, घासों के जंगल, पानी के झरनों को देखकर तो महर्षि भी बोल उठे "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" पर मुझे देख उनको भी कभी कभी शक हो जाय और प्रश्न उनके हृदय में भी उठे कि ब्रह्म को कैसे भूल गया ?

ऐसे कैसे निभेगी—हाय मुझमें यह अपवित्रता कहाँ से आ गई ! क्यों आ गई ? ब्रह्म को भी कलंकित कर रही है। ब्रह्म-कांति की अटल शोभा को भी एक जरा से बादल ने ढाँप दिया। एक मोतियाबिंद के दाने ने गुप्त कर दिया। अपवित्रता को आँखों में रख कैसे हो सकता है वह विद्यादर्शन ? कैसे सफल हो मनुष्यजन्म ? राजदुलारे ! अहो क्या हुआ कि सारी की सारी सलतनत छूट गई, दर दर गली गली धक्के खाता हूँ; कोई लात मारता है, कोई ढेला, कभी यहाँ चोट लगती है, कभी वहाँ, कभी इस रोग ने मारा, कभी उस रोग ने मारा; सारा दिन और सारी रात रोग के पलँग पर भी पड़ा रहना क्या जीवन हुआ ! मरने से पहले ही हजार बार मौत के डर से मरते रहना भी क्या जीवन है ? सदा आशा तृष्णा के जाल में फड़क फड़क न जीना और न मरना, भला क्या सुख हुआ !

कौन सा कलियुग मेरे मन में भूत की तरह आ समाया है कि मुझे सब कुछ भुला दिया। खुश हो होकर जुआ खेलने लग गया। अपनी आत्मा को भी हार बैठा। अपनी आँखें आप ही फोड़ अब

रोते हो क्यों ? अब तो तुम्हारी प्रार्थना सुननेवाला कोई नहीं। इस अपवित्रता के अँधेरे को जैसे तैसे सफेद करना है। इस कलंक को धोना है। इस मोतियाबिंद को निकलवाना है। मैं भारत-निवासी कैसे हो सकता हूँ, जिसने अपने तीर्थों में भी, जिन तीर्थों की यात्रा से सुनते हैं अपवित्रता का कलंक दूर हो जाता था, काले संकल्पों के नाग हर किसी को डसने के लिए छोड़ रक्खे हैं और इसे लीला मानकर रोते समान हँस रहा हूँ।

ये तिमिर के बादल कब उड़ेंगे ? पवित्रता का सूर्य मेरे अंदर कब उदय होगा ? मेरे कान में धीमी सी आवाज आई कि भारत उदय हुआ। हाय भारत का कब उदय हुआ ! जब मेरे दिल में अभी अपवित्रता की रात है, जब अभी मैंने हिमालय, गंगा, विंध्याचल, सतपुड़ा और गोवर्द्धन को अपनी आँख के अँधेरे से ढाँप रक्खा है। भारत तो सदा ही ब्रह्मकांति में वास करता है, भारत तो ब्रह्मकांति का एक चमकता दमकता सूर्य है। जब ब्रह्म-कांति के दर्शन न हुए तो भारत का कहाँ पता चलता है। भारत की महिमा पवित्रता के आदर्श में है। ब्रह्मचारी पवित्र, गृहस्थ पवित्र, वानप्रस्थ पवित्र, संन्यासी पवित्र; ब्रह्मकांति को देखना और दिखाना भारत का जीवन है। पवित्रता का देश, भारत-निवासियों का देश है, जहाँ ब्रह्मकांति का भान होता है खुले दर्शन दीदार होते हैं। भला हड्डी, मांस और चाम के शरीरों और हजारों मील लंबी-चौड़ी मुर्दा की हुई जमीन से भी कभी भारत बनता है ! मखौल के चोचलों से क्या लाभ होता है ? भारत तो केवल दिल की बस्ती है ! ब्रह्मकांति का मानो केंद्र है ! भारत-निवासियों का राज्य तो आध्यात्मिक जगत् पर है। अगर यह राज्य न हुआ तो मुर्दा भूमि के ऊपर राज्य किस काम का ? जल न जायँ वह महल जहाँ ब्रह्मकांति से रोशनी न हो। गोली न लग जाय उन दिलों को, जहाँ प्रेम और पवित्रता के अटल दीपक नहीं

जगमगाते। ऐसे बेरस बेसूद फलों के इंतज़ार से क्या लाभ, जो देखने में तो अच्छे और जब जतन से बाग लगाये, फल पकाये तो खाने को वे काँटे बन गये। चलो चलें अपने सच्चे देश को! इस विदेश में रहने, जूते खाने से क्या लाभ? अपने घर को मुख मोड़ो! बाहर क्या दौड़ रहे हो?

## पवित्रता का स्वरूप

पवित्रता का चिंतन करते हुए ये मेरे मन के कमरे की दीवारों पर जो चित्र लटक जाते हैं उनका वर्णन करना ही लेखक के लिए तो पवित्रता का स्वरूप जतलाना है। लेखक इस कमरे में कई बार घंटों इन चित्रों के चरणों में बैठा है—इन चित्रों की पूजा की और इनसे पवित्रता के स्वरूप को जितना हुआ अनुभव किया। चित्रों का, जो लेखक ने अपने इस बुतखाने में रक्खे हैं, वर्णन तो इस लेख में हो नहीं सकता परन्तु जितना हो सकता है उतना संक्षेप से अर्पण करता हूँ—

(१) ऊँचा पर्वत है, आसपास सुहावने देवदारु के जंगल नीचे तक खड़े हैं। मीलों लंबी बर्फ पड़ी है, इसके चरणों में नदियाँ किलोल कर रही हैं। इसके सिर पर एक-दो, कोई एक एक मील लम्बे, पिघली बर्फ के कुण्ड भी हैं। ऊपर नीला आकाश झलक रहा है। पूर्णिमा का चाँद छिटक रहा है। ठंडक, शांति और सत्वगुण बरस रहा है। सुख आसन में बैठे ताड़ी लगा, खुली आँखों, मैं इस शोभा को देख रहा हूँ। आँखें खुली ही हुई जुड़ गई हैं। पलक गिराने तक की फुर्सत नहीं, मुख खुला ही रह गया है। बंद करने का अवकाश नहीं मिला। प्राणों की गति का पता नहीं। इस अपने ही चित्र के समय घड़ियाँ व्यतीत हो जाती हैं। पाठक! बैठ जाओ, मेरी जगह अपने आपको बिठा लो और देखो जब तक आपका जी चाहे।

(२) गंगा का किनारा है। एक शिला पर भर्तृहरिजी बैठे हैं। पद्मासन लगाये हुए हैं। ब्रह्मचिंतन में लीन हैं। उनकी मुँदी हुई आँखों से एक-दो प्रेम के अश्रु निकलकर उनके तेज भरे कपोलों पर ढलककर जम गये हैं। मृग जंगल से दौड़ते आये और उनके शरीर को भी शिला जान अपने सींग खुजलाने लग गये। आकाश से एक प्यासी चिड़िया उड़ती आई है और इस लाल शिला पर गंगाजल की बूँदों को देख अपनी पीली चोंच से पी रही है। इतने में भर्तृहरिजी की समाधि खुली। भोलेपन, आनंद आश्चर्य्य से भरी हुई—पता नहीं कहाँ को देख आई है। मुझे और आसपास की चीजों को तो कदापि नहीं देख रही थी। उनके कंठ से स्वाभाविक ही शिव शिव की ध्वनि हुई। मैं पास बैठा हूँ। उनके दर्शन करते करते मेरे रोम रोम में शीतलता और सत्वगुण की बहार हो गई; मानो गंगास्नान से मेरी दरिद्रता दूर हो गई। उनकी ध्वनि की प्रतिध्वनि बहती गंगा के आलाप से सुनाई दे रही है। अद्भुत समय है। देखो इस चित्र को, बैठ जाओ।

(३) एक हरे हरे घास के बड़े लंबे-चौड़े मैदान के मध्य में, दूध के रंग की, एक नदी बह रही है। इसका जल साफ है। छोटे छोटे स्याह और काले, पीले और नीले, बड़े और छोटे शालग्राम गोता लगाये बैठे हैं। कई एक बालक नंगे हो होकर ध्वनि-प्रतिध्वनि करते करते किनारे से कूद कूदकर स्नान कर रहे हैं। कोई तैर रहे हैं। उनके सफेद सफेद पीले पीले शरीरों पर कुछ तो जल की रोशनी है और कुछ सूर्य की ज्योति की झलक है। इन शरीरों से सुगंध आ रही है। मुझसे न रहा गया। कपड़े उतार मैंने भी नंगे होकर कूदना शुरू कर दिया। पाठक! अगर तेरा भी मन चाहे तो कपड़े उतार दे और इस ठंडे जल में कूद पड़। उन बालकों की तरह स्नान कर। मैं भी

कभी कभी बाहर आकर नरम रेत के बिस्तर पर लोटता था। कुछ शरीर पर मलता था, कुछ अपने केशों पर डालता था। कभी धूप में बैठा, कभी गोता लगाया। बताओ तो, अब अवस्था क्या है।

(४) एक और चित्र लटक रहा है। इसके देखते ही क्या पता क्या हुआ? काली रात हो गई। हाथ पसारे भी कुछ प्रतीत नहीं होता था परन्तु जरा सी देर के बाद तारों की मध्यम मध्यम ज्योति चित्रकार के हाथ से झड़ी पड़ती है। ऊपर का आकाश, गहनों से लदी हुई दुलहन की तरह, इस एकांत में आ खड़ा है। इस चित्रकार की प्रशंसा करते करते मैं ठहर गया और कई घंटे ठहरा रहा। इस चित्रकार के ब्रुश से एक और भी अद्भुत चित्र साथ ही साथ देखा। ब्रुश का कोई ऐसा इशारा हुआ कि इस दूसरे चित्र में काली अंधेरी रात भागती प्रतीत होने लगी और कोई ऐसा विद्याकला का गोला चला कि कुल तारागण अपनी अपनी पालकियों में सवार हो बड़े जोर से भाग रहे हैं। मैं यह लीला देख ही रहा था कि अचानक रात थी ही नहीं और पर्वतों के पीछे से लाल लाल सूर्य निकल आया था। प्रातःकाल हो गया, गजर बज गये, फूल खिले, हवा चली। पक्षी अपने सितार ले मध्य आकाश में आशा अलापने लगे। पशु नीचे सिर किये हुए ओस से भरी हरी हरी घास को खाने लग गये। नदियाँ मानो एकदम अपने घरों से बह निकलीं। मैं और मेरी पत्नी साथ साथ जा रहे हैं और कभी इस शोभा को और कभी एक दूसरे को देखते हैं। पाठक! उठो, अब तो भोर हो गया।

(५) कुछ एक सामग्री का ढेर लगा है। मनों ही पड़ी थी। अग्नि प्रज्वलित हुई। हवनकुंड में से लंबी लंबी ज्वालाएँ निकलने लगीं। हम दोनों देख रहे हैं। ऐसी पवित्रता का उपदेश हमने किसी गिरजे-मंदिर में कभी नहीं सुना।

(६) अभी जरा मेरे नेत्र जो फिरे तो क्या देखता हूँ कि एक टूटे-फूटे मिट्टी के किनारोंवाला कुंड है। उस पर सब्ज काई उग रही है। और कुछ एक प्रकार के पेड़ अपनी लंबी लंबी डालियों से तालाब के बाज हिस्सों को छाता लगा रहे हैं। परन्तु सारे तालाब पर कमल फूल अपने चौड़े चौड़े हरे हरे पत्तों के सिंहासन पर सारी दुनिया के राजसिंहासनों को मात करते हुए अपने सौरभ्य गौरव में प्रसन्न मन विराज रहे हैं। जो पवित्रता के स्वरूप को देखना है तो पाठक! क्यों नहीं प्रातःकाल इन कमलों को देखते? पुस्तकों में और मेरे लेखों में क्या धरा है?

(७) वाह रे चित्रकार! शाबाश है तेरी अद्भुत कला को, जिसने इस चित्र में, पता नहीं किस तरह, विराट् स्वरूप भगवान् को लाकर लटका दिया! सारे का सारा विराट् स्वरूप जगत् दर्शाया है। और यह भी किसी की आँख में, परन्तु किस कला से दर्शाया है, न तो आँख नजर आती है, और न आँखवाले के कहीं दर्शन होते हैं। केवल विराट् स्वरूप ही देख पड़ता है। मुझे कृष्णजी महाराज का खयाल आया। उनके मुख को देखा, पर उनका चित्र ऐसी कला से संयुक्त नहीं। क्योंकि साथ ही साथ देखनेवाला भी नजर आ रहा है। इस अद्भुत चित्र के अंदर ही अंदर गुप्त प्रकार से लिखा है "पवित्रता"। इस शब्द को ढूँढ़ना है। जब तक यह न ढूँढ़ लूँ, इस चित्र को कैसे छोड़ सकता हूँ। यत्त पास खड़ा है। चित्रकार ने अपने इस चित्र के दर्शन का यह मूल्य रक्खा है अगर आगे बढ़ता हूँ तो साँस घुटी जाती है। ऐसा न हो कि युधिष्ठिर राजाधिराजा के भाइयों की तरह इस चित्र देखने का मूल्य मृत्यु ही हो! मुझे अवश्य इस गुप्त शब्द को ढूँढ़ना है। न ढूँढ़ूँ तो मृत्यु हो जायगी, दुःख होगा। भला ऐसे चित्र को देखना और उसके दर्शन की शर्त को न बजा लाना ऐसा ही पाप है कि मृत्यु हो जाय!

ऊपर के आये हुए चित्र तो साधारण तौर पर कुछ कठिन भी हों। और यदि पवित्रता का स्वरूप न भी भान हो तो नीचे और चित्रों के दर्शन से मैंने कई एक को पवित्रता का अनुभव होते वास्तव में देखा है।

(८) एक टूटा-फूटा, कच्ची ईंटों का, मकान है। दीवारें इसकी मिट्टी से लिपी हुई हैं। इसकी छत घास के तिनकों से बनी है। किसी पक्षी का घोंसला नहीं। यह अच्छा बड़ा है। दरवाजा इसका बहुत छोटा है। जरा अपनी लम्बाई को कम करके जाना पड़ेगा। सर झुकाकर अन्दर घुसना पड़ेगा। इसके अन्दर क्या प्रभुज्योति से चमकती हुई एक देवी बैठी है। उसने मुझे नहीं देखा और न आपको। बैठ जाइए, इसकी गोद में एक छः महीने का, चाँद से मुखवाला, बालक है जिसके सफेद सफेद कपोलों पर काले बाल लिपट रहे हैं। यह बच्चा दूध पीते पीते सो गया है। यह विद्या सुन्दरता से भूषित सुन्दरी, इस अमूल्य बालक की माता है। अपने अत्यन्त प्रेम को दिल से बहा बहाकर आँखों द्वारा इस सोते बालक पर सफेद ज्योति की किरणों के समान बारिश कर रही है। इस प्रेम नूर की झड़ी साफ बरसती प्रतीत होती है। यह मरियम और ईसा है, इस मरियम ने घर घर अवतार लिया है। घर घर यह अमूल्य ईसा इस तरह अपनी माँ की गोद में सोया है। रैफल जैसे वैद्य, और सर्वकलासंयुक्त चित्रकारों ने अपने सर्वस्व को इस चित्र की पवित्रता के चिंतन में हवन कर दिया है। आयु इसकी प्रशंसा करते करते व्यतीत कर दी। माता की इस पवित्रता-स्वरूप निगाह, ध्यान करते करते मातावत् पवित्र-हृदय हो गई। माता के इस रूप से लाखों पुरुषों ने जीवन का बपतिस्मा लिया। इस चित्र के नीचे लिखा है "पवित्रता का नमूना।"

पाठक ! मेरे लेख में आगे क्या धरा है। जरा अपना बिस्तर खोल दो, जल्दी पढ़ने की मत करो। हो सके तो इस झोंपड़ी में दिन-रात रहो तो सही। और कहाँ जाना है। इस देवी के चरणों में बैठ जाओ। इस पवित्र भाव की रज को अपने अन्दर के शरीर पर लगाओ। अपने मन को यही विभूति लगा लो। शिवरूप हो जाओगे। मरियम और उसके बच्चों की तस्वीर को हजार बार देखा होगा। परन्तु अब बैठ जाओ। हर झोपड़ी के अन्दर देखो कौन बैठा है।

(९) यह मरियम का लाड़ला बच्चा मा का दूध पी, मा का अत्यन्त प्रेम पान करके जवान हो गया। लटें इसके कंधों पर लटक रही हैं। इसके रूप पर अद्भुत तेज है। इसके नेत्र आकाश को उठे हुए हैं। पता नहीं किसको देख रहे हैं। इसका मस्तक चमक रहा है। पहचानो तो, यह कौन सपूत है।

(१०) समुद्र बीच में है। किसी की प्यारी बहन अपने देश में समुद्र के किनारे खड़ी है, और प्यारा वीर किसी जहाज को लेकर अन्य देशों में गया हुआ है। परन्तु यह बहन हर रोज उसके जहाज को देखने की आशा में समुद्र के विशाल विस्तार को घंटों देखती रहती है। जरा इसकी आँख को पूरे अनुभव से देखना। कभी कभी उस एक आँसू को भी देखना जो आँखों से झड़कर समुद्र के जल से लीन हो जाता है। हो सके तो इसको अपनी बहन जानकर अब अपने हृदय को भी आजमाना। यह भी पिघलता है कि नहीं ? वह जहाज आया। सीटी बजी। लंगर गिरा। भाई ने दूर से अपने रूमाल को लहरा लहरा कर हृदय में प्यारी बहन को नमस्कार किया। बहन ने भी दूर से अपने पतले पतले बाहु पसार अपने सुन्दर हाथों से अपने वीर का स्वागत किया। न्योछावर हुई। इतने में भाई बहन दोनों एक दूसरे के गले लगकर रो पड़े। इस चित्र के नीचे

लिखा था "पवित्रता का बादल" छम छम छम छम, रम झम, रम झम।

(११) दूर दराज से पिता सफर तै करके घर आया है। वह पुत्री दौड़ती बाहर आई है। इस कन्या की साड़ी सिर से उतर गई है। इस तेजी से दौड़ी है कि खुले केश पीछे पीछे रहे जाते हैं। मुख खुला है। बोल कुछ नहीं सकती। इतने में पिता उसे गले लगाकर ज्योंही अपनी पुत्री के सिर पर प्यार देने झुका तो आँखों से मोतियों का हार झलककर उसके केशों पर बिखर गया। यह मोतियों का हार इस चित्र में क्या सुहावना लगता है!

(१२) सीताजी अयोध्या में अपने महल की सीढ़ियों पर खड़ी हैं, और लक्ष्मणजी धनुष-बाण कंधे पर रखे, सर झुकाये हाथ जोड़े पास खड़े हैं, इनके चरणों की ओर देख रहे हैं, और सीताजी के मनोरंजक वाक्य और आज्ञा को सुन रहे हैं।

(१३) जंगल बियाबान (निर्जुक) है। लम्बे लम्बे पेड़ खड़े हैं। कोई सूखे हैं कोई हरे। सत्यवानजी कन्धे पर कुल्हाड़ा रखे आगे आगे जा रहे हैं। देवी सावित्री पीछे पीछे जा रही है। एक जगह दोनों बैठ गये हैं। वे इनको देखती हैं, ये उनको देखते हैं। वे उनकी गोद में और ये इनकी गोद में लेट रहे हैं।

(१४) नदी पर एक एकांत स्थान में बहुत सी कन्याएँ, स्त्रियाँ, देवियाँ स्नान कर रही हैं। सुकदेवजी पास से गुजर रहे हैं। उनको कोई भय नहीं हुआ। वे वैसे की वैसे खुल्लमखुल्ला नंगी नहा रही हैं। नदी का जल मारे आनंद के कूद रहा है। ये उछल रही हैं।

(१५) वह राजबालक ध्रुव, ताड़ो (समाधि) बाँधे जंगल में शेरों के मुख में अपने हाथ को दे रहा है, खेल कर रहा है। प्रतीत होता है लड़ रहा है।

(१६) छोटे छोटे बहुत से बच्चे बैठे हैं, पुस्तक हाथ में है और पढ़ रहे हैं, काँय काँय हो रही है।

(१७) एक नौजवान है फटी हुई बिना बटन की कमीज गले में है। सिर नंगा है। पाँव नंगा है। किसी की तलाश में है। चारों ओर देखता है। कभी इस पेड़ के और कभी उस पेड़ के पास जा खड़ा होता है। रोता है। वृक्ष भी उसके साथ रो उठते हैं। प्रेम की मदहोशी में वह गिर पड़ा है। आँसू बह रहे हैं। पृथ्वी की रज उसके बालों में विभूति की तरह लग गई है। कभी गिरता है, कभी उठता है। कभी बादल को देख उसे जाते जाते खड़ा कर लेता है। शायद किसी को पत्र भेज रहा है। नदी से, पत्थरों से, पक्षियों से, पशुओं से बातें करता जा रहा है। अभी यहाँ था, अब नहीं है।

(१८) दमयंती राजहंसों के पास खड़ी है। नल का इंतजार कर रही है। आप भी पास बैठ जाइए। आपकी माता है, बहन है, देवी है।

(१९) एक अनाथ अजनवी अभी अपने प्राणों को त्याग, एक दरख्त के नीचे सड़क-किनारे उस नींद में सो रहा है, जिससे कभी नहीं जागेगा। अपना शरीर आपके हवाले कर गया। उसका मृत्यु संस्कार आपको करना है।

(२०) राजा जनक की सभा लगी है। ऋषि लोग बैठे हैं। ब्रह्मवादिनी गार्गी आँखों में कपिलवाली लाली लिए हुए आ खड़ी हुई है। सब आश्चर्यवत् हो गये। गार्गी नंगी है, पर बिजली के जोर से यह देवी कह उठी—जाओ अभी सब शूद्र हैं चमार हैं। वह जा रही है। आकाश प्रणाम करता है, पृथ्वी काँप रही है।

(२१) सफेद ऊन के कोट पहने ये छोटी छोटी भेड़ें इस टप्पर में दर्शन दे रही हैं। कोई खड़ी, कोई बैठी और कोई फलाँग मार रही है।

(२२) क्या सुहावना अरबी घोड़ा खड़ा है, काठी-लगाम से सजा हुआ है। सवार लड़ाई में शहीद हो गया है। यह घरवाले सम्बन्धियों को खबर करने अकेला ही चला आया है। दुलदुले वेयार सामने खड़ा है। कौन इस अनाथ घोड़े को देख नहीं रो उठेगा। पाठक ! क्या हृदयगम्य उद्देश को लिए जगत् में एक ही अपनी मिसाल आप खड़ा है। मुख नीचा किये हुए किसी दर्द से पीड़ित हो रहा है।

(२३) मेवाड़ देश की महारानी, भारतवर्ष की जान, मीरा-बाई राज छोड़कर रज पर बैठी है। उसके दिव्य नेत्र खुले हैं। साधारण जगत् कुछ भी नहीं देख रहा है। इतने में राजाजी ने मस्त हाथी दौड़ाया कि इस देवी को कुचल डाले। मैं पास बैठा हूँ। क्या देखता हूँ कि देवी के पास आ हाथी की मस्ती खुल गई। उनके चरणों में नमस्कार की और चल दिया। जब कभी मेरा हृदय विक्षिप्त होता है, मैं यहाँ आकर इस देवी के चरणों की रज को ले अपने मस्तक और नाभि, दिल और चक्षु और सिर में लगा उन्हें पवित्र करता हूँ।

(२४) राजाओं के राज्य, राजधानियों की राजधानियाँ नष्ट हो गईं। वे तख्त जिस पर बैठते थे तख्ते हो गये, मिट्टी में मिल गये। परंतु समय के प्रभाव को देखिए। सारे भारतवर्ष की महारानी नूरजहाँ रावी नदी के किनारे लाहौर शहर के उस तरफ मामूली धरती की गुफा में लेटी है, कभी कभी उठकर एक निगाह इस सारे देश पर करती है। सब्ज काही रोज जा-जाकर उसके चरणों पर नमस्कार करती है। ग्रीष्म ऋतु रंग-बिरंग के पत्ते इसके ऊपर बरसाती है। वसंत ऋतु जब कभी आती है उसके सिर पर फूलों की वर्षा करती है। इस भारत की महारानी के स्थान की यात्रा यहाँ आ होती है। मुझे आप आशीर्वाद देते हैं, और अपनी मलका

का दर्शन कर मैं अजीब भावों से भर अपने पाठक के मुख को देखता हूँ।

(२५) वह कौन बैठे हैं! कमल के फूल का सिंहासन है, उस पर पद्मासन लगाये निर्वाण-समाधि में लीन, कपिलवस्तु का राजकुमार बैठा है। जगत् को जीत चुका है। राजाओं का राजा है। बुद्ध के पत्थर के गढ़े चित्र तो कई देखे, वे भी अद्भुत हैं। पर शाक्यमुनि बुद्ध आप सभी से अद्भुत है। दर्शन दुर्लभ तो नहीं, वह रुकते तो नहीं, उनको तुम्हारी खबर भी नहीं। पर दीदार खुले होते हैं। जहाँ बुद्धजी का चित्र है, वह मन पवित्र है. स्थान पवित्र है।

२६) किसी गाँव की एक गली है। किसान लोग रहते हैं। वह कौन आया! जिसे देखने सब के सब नर-नारी बालक घरों से बाहर निकल आये। नीली-नीली विभूति रमाये, एक हाथ में भिक्षा-पात्र, दूसरे हाथ में पार्वती को पकड़े साक्षात् शिव-पार्वती आ रहे हैं। अब मंगल होगा। सबको वर मिलेंगे। वह लो—शिवजी ने सिंघी बजाया। सोने के बर्तन में दूध भरे गाँवों की स्त्रियाँ भिक्षा देने आई हैं। ठहरते तो नहीं, जा रहे हैं। मंगल. आनंद, सुख की वर्षा करते जा रहे हैं।

(२७) कलकत्ते के पास एक निरक्षर नंगा कालीभक्त है। कालीभक्त क्या? ब्रह्मकांति का देखनेवाला फकीर है। इसके नेत्र और इसका सिर, मेरे तेरे नेत्रों और सिरों से भिन्न हैं। किसी और धातु के बने हुए हैं। मामूली साधु नहीं, तो छू छू करते फिरते हैं। एक कोई स्त्री आई। आप चीखकर उठे। माता कह-कर उसके चरणों पर सिर रख दिया। मेरी तेरी निगाहों में यह कंचनी ही थी। पर रामकृष्ण परमहंस की तो जगत् माता निकली। देखकर मेरी आँखें फूट गईं। और मैंने भी दौड़कर उसके चरणों में शीश रख दिया। तब उठाया, जब आज्ञा हुई।

दरिद्रो ! तुम क्या दे रहे हो ? मेरे सामने परमहंस ने कुल विराट् इस माता के चरणों में लाकर रख दिया। नेत्र खोल दिये। अहिल्या की तरह अपना साधारण शरीर छोड़कर यह देवी आकाश में उड़ गई। कहोगे "पूर्ण" तो मूर्तिपूजक हो गया ? कुछ भी कहो—मेरे मन की कोठरी ऐसी मूर्तियों से भरी है। इस बुत-परस्ती से पवित्रता मिलने के भाग खुलते हैं, पवित्रता को अनुभव कर ब्रह्मकांति का दर्शन होता है।

कंगाल तो मैं हूँ जरूर और मुझमें कोई चित्र खरीदने का बल नहीं। परन्तु मित्रो ! आकाश से एक दिन अमूल्य चित्रों की बारिश हुई थी। मैंने अपने घर के नीचे-ऊपर से, सहन से, छत से इकट्ठा करके एकत्र कर लिये थे। पहले तो रखने का स्थान नहीं था परन्तु जब प्रेम से मन की दीवारों पर लगाने लगा तो क्या देखता हूँ कि मेरे मन में अनन्त स्थान है और आनन्द से चित्र लटक रहे हैं। मित्रो ! सारे विराट् को लटका-कर मैंने देखा कि अभी मेरा कमरा खाली का खाली ही था।

## आजकल के उपदेश किये जा रहे पवित्रता के साधनों पर एक साधारण दृष्टि

प्रिय पाठक ! प्रथम मुझको यह प्रकट करना है कि इस शीर्षक के नीचे आकर यदि कई इस देश के बड़े बड़े आदमी भी कट जायं, यदि कई एक बे-नाम भारतनिवासियों के दिल के खिलौने टूट जायँ, यदि कई एक बागियाना विचार आजकल के कल्पित हिन्दू धर्म के विरुद्ध युद्ध का झंडा उठावें, यदि प्राचीन ऋषियों की आज्ञा का भी कहीं कहीं पालन न हो, यदि सोमनाथ के मुर्दों और हृषिकेश एवं हरद्वार के जीते लोगों के पूजा के शरीरों का अन्त हो जाय; कुछ भी हो, उससे कभी भी यह

परिणाम न निकालना कि मेरा अभिप्राय स्वप्न में भी प्राचीन ऋषियों—ब्रह्मकांति में रहनेवालों—की आज्ञा का तिरस्कार करने का है, या उनके उपदेश किये हुए आदर्शों के तोड़ने का है, या आक्षेप लगाना स्वीकृत है, या कभी उनके सम्मुख होकर बिना सिर झुकाये गुज़रना है या किसी प्रकार से अपने देश-निवासियों के हृदय को दुखाना है या क्लेश देना है। मेरा अभिप्राय कुछ है, परन्तु किसी दशा में भी वह नहीं, जो बता चुका हूँ।

दुनिया की छत पर खुश खड़ा हूँ तमाशा देखता।
गाहे ब गाहे देता रहा हूँ बहशियों की सी सदा॥

मेरी तो एक "बहशियों की सी सदा" है। सुनो या न सुनो इससे कुछ प्रयोजन नहीं, ईश्वर की इस लीला में आप वहाँ रहते हैं, मैं यहाँ रहता हूँ। इसलिए क्षमा माँगकर अब मैं अपनी दृष्टि, अपने ऐसे ही माने हुए देश की ओर फेरकर जो देखता हूँ वह बेधड़क कहे देता हूँ।

## त्याग, वैराग्य और इनके अनर्थ

देश में, पता नहीं, न जाने कहाँ से किधर से कैसे और क्यों अपवित्रता आ गई है कि हमारे हाथ ऋषियों का इतना बड़ा आदर्श—त्याग और वैराग्य का आदर्श—मटियामेट हो गया? महात्मा बुद्ध ने त्याग किया, ईसा ने त्याग किया, शंकर ने त्याग किया, रामकृष्ण परमहंस ने त्याग किया, स्वामी दयानन्द ने त्याग किया, स्वामी राम ने त्याग किया, भर्तृहरि ने त्याग किया, गोपीचंद ने त्याग किया, पूर्ण भक्त ने त्याग किया और वैराग्य का बाना लिया। बस अब किसान भी हल जोतने को त्याग उनका सा रूप सँवार चले गंगातट को, चले हृषीकेश को। वहाँ

अन्न मुफ़्त मिलता है। छोटे छोटे बालक और नवयुवक भी कूदे। अहह! आदर्श के दर्शन हुए, कमीज और पाजामा उतार दिया। जोश आया, वैराग्य आया, गेरुए रंग के वस्त्र धारण किये हुए फिर रहे हैं और दिन कटता ही नहीं, रात गुजरती ही नहीं। जंगल खाता है। एकांत भाता ही नहीं। सभाएँ हों, पुलपिट हों, कालिज हों, स्कूल हों, आप अपने आपको दान देने को तैयार हैं। बलिदान हो चुका, यज्ञ हो गया। स्त्री का मुख देखना पाप है। बड़े बड़े वैराग्य के ग्रन्थ खोल, गेरुआ रँगे हम अपनी माता बहन और कन्याओं को नग्न करके उनके हड्डी मांस की नस नस को गिन गिनकर तिरस्कार करते हैं। क्यों भाई! बिना इसके भला वैराग्य और ब्रह्मचर्य्य का पालन कब होता है? वैराग्य और त्याग के उपदेश हो रहे हैं कि बस आत्मिक पवित्रता इसी से आयेगी। जगत् बस अभी जीता कि जीता, किला सर हो गया। आपका बोलबाला हो गया।

नहीं प्यारे! जरा थम जाओ, जरा अपने शरीर को देखो, जरा बुद्ध के शरीर को देखो, जरा शंकर भगवान् के रूप को देखो, जरा बड़े बड़े महात्माओं के शरीर को देखो। यदि ये शरीर पवित्र हैं तब उनकी माता का शरीर किसलिए अपवित्र मान लिया! यदि इन सबको पीताम्बर पहनाकर पूजते हो तब वैराग्य और त्याग में मस्त लोगो, भला इनकी माताओं को, इनकी बहनों को, इनकी कन्याओं को क्यों नग्न कर रहे हो?

द्रौपदी की साड़ियाँ उतार उतार अपनी पवित्रता के साधन कर रहे हो? फूँक क्यों नहीं डालते उन ग्रन्थों या हिस्सों को जहाँ तुमको ऐसा वहशी बनाकर पवित्र बनाने के झूठे वचन लिखे हैं। किससे छिपाते हो? ज्यों ज्यों द्रौपदी को नग्न करने में लगे हो त्यों त्यों तुम्हारा वैराग्य और त्याग गंगा में बह रहा है। गेरुए कपड़े के नीचे वैसे के वैसे न सजे हुए पत्थर की तरह तुम

निकले। ऐसा तिरस्कार करना और अपवित्र होना यह तो मन की चंचलता और ध्यान के अद्भुत नियमों को हड़ताल लगाना है। कदाचित् असंभव संभव हो जाय परन्तु ऐसे वैराग्य और त्याग से जिसमें अपनी माताओं, बहनों. कन्याओं के नग्न शरीरों को नीलाम करके पवित्रता खरीदनी है तब कदाचित् पवित्रता न कभी मन में आयेगी, न दिल में, न आत्मा में और न देश में ही! मेरा विचार है कि कारण चाहे कुछ भी हो. हमारे देश में इस झूठे त्याग और वैराग्य के उपदेश ने पवित्रता, अकपटता, सचाई का नाश कर दिया है। जिस उपदेश में मेरी माता का, मेरी बहन का, मेरी स्त्री का, मेरी कन्या का तिरस्कार हो और वैसे ही तुम्हारी का, भला वह कब मेरे तेरे हम सब के लिए—देश भर के लिए—कल्याणकारी हो सकता है? सूर्य चाहे अंध होकर काला हो जाय, परन्तु जहाँ स्त्री-जाति का ऐसा तिरस्कार होता है वहाँ अपवित्रता, दरिद्रता, दुःख, कंगाली, झूठ. कपट राज्य न करें, चांडाल गद्दी पर न बैठे यह कदापि नहीं हो सकता। हे बुद्ध भगवन्! क्यों न आपने अपने बाद आनेवाले बुद्ध के नाम को ले लेकर संसार को अपवित्र बनानेवालों का विचार किया? क्यों न आपने डंके की चोट से इस अनर्थ के निवारणार्थ अपने बाद इस पुरुष की माता, पुत्री, बहन को, स्त्री को, इस नीचे पुरुष के लिए अपने सामने उच्च सिंहासन पर बिठा इसको आज्ञा दो कि बचपन से लेकर जब तक इसको ब्रह्मकांति का महा आकर्षण स्वाभाविक बुद्ध न बना दे तब तक यह अपना क, ख, ग, घ और अ, आ, इ, ई इस देवी के सिंहासन के पास बैठकर पढ़े। जो कुछ हो गया या बुद्ध पैदा ही हुआ उसे आपको भिक्षुक होने का उपदेश देने की क्या आवश्यकता थी? आपको किसने उपदेश दिया था कि आपने कपिलवस्तु राजधानी को लात मार युवावस्था ही में ब्रह्मकांति की तलाश में—उस अनजानी ज्योति

के स्वरूप की तलाश में—जंगल जंगल घूम अपने शरीर को सुखा लिया, हड्डियाँ कर दिया। हे भगवन ! आकर अब जरा देखिए तो सही, आपके बाद आज तक बुद्ध कोई न हुआ। किसी माता को आपकी माता के समान ब्रह्मकांति का दर्शन लाभ न हुआ और कोई माता भी ब्रह्मकांति को अपने गले में ले बुद्ध को अपने पेट में अनुभव न कर सकी। आपका नाम ही नाम रह गया है जिसके सहारे कई ईंट पत्थर रोड़े के मन्दिर खड़े हो गये। बुत बन गये परन्तु मनुष्य डूब गया। इसके नीचे आ मर गया, मनुष्यता अपवित्रता की कीचड़ में फँसकर मर ही गई। जिसके बचाने के लिए आप आये थे वह न बचा !

हे शंकर भगवन् ! आपसे विनयपूर्वक आज्ञा माँगकर आपकी सेवा में उपस्थित होता हूँ। आपको तो हिमालय भाता था, आपको तो वेद श्रुति दर्शनग्रंथ, ब्रह्मकांति के दर्शन, कोई और काम न करने देते थे। आपको कोई और हल न चलाना था। आपके दर्शनों ही से सूर्य और चंद्र उसी नीली खेती में ज्योति स्वयमेव बोते थे। परन्तु मैं तो एक अपने अपवित्र देशनिवासियों के विरुद्ध अपील लेकर आया हूँ। आपके जाने के बाद संन्यासाश्रम का नाश हो गया। सच कहता हूँ, मेरे देश का संन्यास अपवित्र हो गया, क्षुद्र हो गया। आपने तो इन लोगों की खातिर अपने एकांत के सुख को, जो आचार्य गौड़पाद ने भी न छोड़ा, त्यागकर इनके कल्याण के लिए दिग्विजय किया। काश्मीर से रामेश्वर तक आपने ब्रह्मकांति का गायन किया। परन्तु आपके जाने के बाद लोगों ने इस देश में गंगोत्तरी, हृषीकेश, केदारनाथ, बद्रीनारायण को भी अपवित्र कर दिया। गेरुआ रंग को न तो पवित्र धरा पर ही रहने दिया और न आपके शरीर पर। अब तो गेरुआ रंग मखमल के तकियों पर, चमड़े की बग्घियों पर, जागीरों और मठों के एकत्र

किये हुए खजानों पर रखा है। दासत्व, कमजोरी, कमीनापन, कपट का पर्दा हो रहा है।

भगवन्! तीसरा नेत्र खोलकर जरा इस देश के गेरुआ रँगे उपदेशकों के अन्दर के अंधकार को क्यों नहीं देखते? सारा देश तो आपके पीछे इनको आपका रूप जानने लगा है। परन्तु ज्यों ज्यों समय गुजरता जाता है त्यों त्यों मृत्यु और दुःख भूख और नग्नता इस देश में बढ़ रही है। क्या ब्रह्मज्ञान का फल यही है? महाराज! सरस्वती देवी से तो आप छः महीने हारे रहे, क्यों न आपने हार मान ली और उस देवी को अपने सिंहासन पर बिठाया और क्यों न आप इस देश में इस देवी का राज्य अटल कर गये। आप मेरे देशनिवासियों के माता पिता हैं। फिर यदि अपने हाथों स्त्री और कन्या को राजतिलक दे जाते तब क्या शंकर का इस देश में जन्म लेना कभी ऐसा असंभव होता, जैसा अब हुआ है? मैं आपका बागी पुत्र आपसे प्रेम की लड़ाई करने आया हूँ। आपको यह राज्य अब देना ही पड़ेगा। आपके चरण इस पृथ्वी को स्पर्श कर चुके हैं! इस देश की रज को आपका स्वरूप मानकर मैं तो अब लो यह राज्य दिये देता हूँ।

जब तक आर्य्य कन्या इस देश के घरों और दिलों पर राज्य नहीं करती तब तक इस देश में पवित्रता नहीं आती! जब तक देश में पवित्रता नहीं आती, तब तक बल नहीं आता। ब्रह्मचर्य्य का प्राचीन आदर्श सुख नहीं दिखलाता, देश में पवित्रता लाने का हे भगवन्! अब तो पहला संस्कार भारत-कन्या को राजतिलक देना है।

सच है, देश में अपवित्रता समष्टि रूप से है। एक दो को यदि पवित्रता किन्हीं और साधनों से आ भी गई तो वह साधन क्या हुए जिन्होंने मेरी और तेरी आँख ठीक न की।

## ब्रह्मचर्य्य का उलटा उपदेश

ब्रह्मचर्य्य का उपदेश इस देश में प्राचीन काल से चला आया है और आजकल कोई भी समाज हो, मंदिर हो, सभा हो सत्संग हो, जहाँ इस देश में ब्रह्मचर्य्यपालन के ऊपर उत्तम से उत्तम व्याख्यान और उपदेश न होते हों, परन्तु अपने दैनिक जीवन को देखो। कल यदि सात फुट लंबे आदमी थे तो आज छः फुट रह गये। कल के कालिजों में तो पाँच फुट के बालक पढ़ते थे आज चार फुट के ही रह गये। क्या उलटा परिणाम है। न हृदय में बल, न बुद्धि में शक्ति, न मन में साहस, न उच्च विचार, न पवित्र जीवन, न दया, न धर्म, न धन, न माल और इस देश में जहाँ ब्रह्मर्षियों ने संसार के आदि में गाया था :—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि। बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽस्योजो मयि धेहि। मन्युरसि मन्युं मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥ ६ ॥ य० १६। ६ ॥

और अफ्रीका के हबशी जिनको ब्रह्मचर्य्य का आदर्श कभी स्वप्न में भी नहीं आया, वे हमसे लंबे, हमसे चौड़े और हमसे अधिक पराक्रमी हैं।

इँगलैंड में जहाँ इस पर कभी इतना जोर न दिया गया, वहाँ के आजकल के लड़के भी हमसे अधिक लंबे, चौड़े, बलवान्; तेजस्वी, ज्ञानवान्, विद्वान्, संपत्तिमान्, बुद्धिमान् हैं। हमारी कन्याएँ दुर्बल, पीले रंग की, जवानी में भी बुड्ढी सी और उस देश की माताएँ और कन्याएँ छः छः फुट ऊँची, सुर्खी और बल और तेज की हँसी लिए हुए अकेली सारे जगत् को प्रातःकाल चलकर घूमघाम शाम को घर पहुँच जायँ।

जापान को देखो। वहाँ किसी बालक को कभी ब्रह्मचर्य का आदर्श इस जोर से, इस अगड़ रगड़ से, नलों से नहीं पिलाया

जाता—जैसे यहाँ। परन्तु सबके सब फूलों के समान खिले चेहरेवाले हैं, बलवान् हैं; विद्यावाले हैं; महान् अनुभवोंवाले हैं, उच्च उद्देश्यवाले हैं। हर कोई कहता है—

डटकर खड़ा हुआ हूँ खाली जहान में।
और तसल्ली दिल भरी है मेरी दम में जान में।

कौन सा प्रलय आ गया कि हमारे देश से ब्रह्मचर्य का आदर्श अमली तौर पर बिलकुल नष्ट भ्रष्ट हो गया? नजर ही नहीं आता; मुझको देखो, तुझको देखो, इसको देखो, उसका देखो। सब जले भुने सड़े सड़ाये चेहरे लिए हुए आर्य ऋषियों का नाम ले रहे हैं।

बस महाराज! ब्रह्मचर्य के इस विचित्र उपदेश को बंद करो जिसमें तुमने स्त्री जाति का तिरस्कार किया है। अमली तौर से वैराग्य के घने उपदेशों से स्त्री जाति का तिरस्कार किया है। ब्रह्मचर्य अब इस अपवित्र देश में बिना मातृ-भक्ति के, कन्या पूजा के कभी स्थापित नहीं हो सकता। इस देश में क्या, कहीं भी ऐसा नहीं हो सकता। ऐसा ही उपदेश करते करते ईसा की हार हुई। बुद्ध की हार हुई, शंकर का दिग्विजय हार में बदल गया। इस हार ने संन्यासी साधुओं के छक्के छुड़ा दिये। सारी फौज इन स्त्री जाति के अहित, ब्रह्मचर्य पालन करानेवाले जरनेलों की तितर-बितर हो गई, पता ही नहीं लगता कहाँ गई।

जब ये हार गये तब इनके स्वरूप पर गढ़े हुए आश्रम और समाज, स्कूल और कालिज कब जीत सकते हैं? इन रुण्ड मुंड संन्यासी रूप विद्यालयों को क्यों बना रहे हो? जो बुद्ध और शंकर का, ईसा और चैतन्य का दर्शन न करा सका वह भला मातृरहित, भक्तिरहित, कन्यारहित बी० ए० एम० ए० साधारण अध्यापकों की मिट्टी और ईंट के रूखे सूखे घर कब करा सकते हैं?

## दान

दान लेना नहीं, दान देना भी एक पवित्रता का साधन माना जाता है परन्तु दान देने का वह प्राचीन भाव तो काफूर की तरह इस देश से उड़ गया है। दान देने से तो अपने पापों को जिनसे धन आजकल कमाया जाता है, छिपाने की गरज है।

पवित्रता के चिंतन और ग्रहण से क्या प्रयोजन है? जिस तरह रिश्वत दे देकर धन एकत्रित होता है उसी तरह ईश्वर को भी रिश्वत देकर स्वर्ग लेने की मनशा हो रही है। ऐसा इकट्ठा करके वैसे दे देना, धर्मशाला बनवा देना, क्षेत्र लगवा देना, ईश्वर की आँखों में नमक डालकर अपने आपको चतुर कहना—भारतवर्ष के आजकल के जीवन के निघंटु में दान के अर्थ यही मिलते हैं। बस एकदम बंद कर दो दान देने को और रुपया जमा कर सकते हो तो करो। किसान की तरह अपना पसीना जमीन के अन्दर निचोड़ जो कुछ दाने मिलते हैं उनको खाओ, स्वर्ग और ईश्वर को अपने ताँबे और चाँदी के रुपयों और सोने के डालरों से खरीदने इधर उधर मत भागो। भूखे मर रहे हो, खुद खाओ और अपने बालबच्चों को खिलाओ और कुछ काल के लिए चुप हो जाओ। अपने बच्चों को विद्या दान दो, बुद्धि दान दो। यही तुम्हारा और यही ईश्वर का स्वर्ग है।

कहाँ हैं तुम्हारे साधु, जिनके हुकुम से हाथ बाँधे ये कलकत्ते के सेठ या पेशावर के ठेकेदार गुलाम फिर रहे हैं। अगर वे साधु हैं तो क्यों नहीं ब्रह्मतेज से इनका शासन करते? क्यों नहीं ताड़ते? उल्लुओं के स्वर्ग क्यों बनने देते हैं? हे राम! इनको क्या हो गया है कि सती स्त्रियों के गहने बिचवा-बिचवाकर अपना अमूल्य सिर छिपाने के लिए लाख लाख रुपयों की कुटिया बनवा रहे हैं जहाँ मार्कंडेय ने अपनी सारी आयु तारों की धीमी धीमी रोशनी के नीचे काट दी! कौन से क्षेत्रों से ये

जिसको खाते ही चन्द्रमा चढ़ जाता है, ज्ञान हो जाता है। वह हो पास तो फिर कुछ और दरकार नहीं होता। ओ जगत्वालो! बड़ी भारी ईजाद हुई है। छोड़ दो अपनी पदार्थविद्या, जाने दो यह रेल, यह जहाज, ये नये नये उड़नखटोले, हवा में तैरनेवाले लोहे के जजीरे। प्रकृति की क्यों छानबीन कर रहे हो? इससे क्या लाभ? हृषीकेश में वह अनमोल गोली बिकती है, और सिर्फ दो चपाती के दाम, जिस गोली के खाने से सारे जन्म कट जाते हैं, सब पाश टूट जाते हैं; और जीवन-मुक्त हो सारे संसार को अपनी उँगलियों पर नचा सकोगे, बिना नेत्र के, बिना बुद्धि के, बिना विद्या के, बिना हृदय के, बुद्धवाले निर्वाण, पतञ्जलि-वाली कैवल्य, वैशेषिकवाली विशेष, वेदांतवाली विदेह मुक्ति मिलती है। बेचनेवाले देखो वे जा रहे हैं। तीन-चार पुस्तकें हाथ में हैं और तीन-चार पुस्तकें बगल में। आपको इन दो पुस्तकों के पढ़ने से ही ब्रह्म की प्राप्ति हो गई है, ज्ञान हो गया है। एक बेचारा पंजाबी साधु गाता था—

"अगे आप खुदा कहा ऊँदेसां, हुए बन बैठे खुदा दे प्यो यारो"

जब कि दूसरे ने यह वाक्य उच्चारण किया था—

"सन जोड़े सन कपड़े थे तौ आप खुदा,
जो मूरख नहीं तिसको भया सौदा"

प्यारे पाठक! पुस्तकों के ज्ञान से क्या लाभ? जो अपने जीवन का ही कुछ पता नहीं, पुस्तकें हमारे पास पड़ी हैं, और वह भी अँधेरी रात में! दोनों सोते हैं, कोई ज्योति चाहिए, कोई इन्द्र की कला चाहिए जिसके मरोड़ने से बिजली के लैंप जल उठें। उस समय अगर जी चाहे तो एक आध पुस्तक का एक आध अक्षर पढ़ने से भी कुछ समझ पड़े और कुछ लाभ हो।

बात बहुत लंबी होती जाती है। इन चोचलों से, इन मखौलों से, इन स्वप्नों से इस देश में कब पवित्रता आती है? ये तमाशे

सारे ही अच्छे हैं, और ऊपर लिखे हुए कई एक साधन अधिक से अधिक पवित्रता के दाता हैं, पवित्रतावर्धक हैं परन्तु किसी किसी को तो ये सब रोग के बढ़ाने के कारण होते हैं। विद्या कैसी अच्छी चीज है, परन्तु कमीनेपन की विद्या अर्थात् केवल पुस्तकपूजा तो अधिक से अधिक उन्नति देती है। चतुरता आती है, कमीनेपन और नीचता के लिए उत्तम से उत्तम शास्त्र और दलील प्रमाण मिल जाते हैं। बल कैसी उत्तम चीज है, परन्तु एक जालिम के हाथ यह भी तो नीचता को अधिक करता है। धन इस समय के प्रचलित जीवन में कितना बड़ा संचित जोर है, परन्तु देखो तो सही क्या कर रहा है।

इस तरह से साधनों के अच्छे या बुरे होने पर मुझे कोई पांडित्य-पूर्ण व्याख्या नहीं करनी, मुझे तो अपने देश की अपवित्रता के दूर करने और अपने भाई-बहनों को मनुष्य बनाने के साधनों को देखना है। जब हम मनुष्य बन जायँगे तब तो तलवार भी, ढाल भी, जप भी, तप भी, ब्रह्मचर्य भी, वैराग्य भो सब के सब हमारे हाथ के कंकणों की तरह शोभायमान होंगे, और गुणकारक होंगे। इस वास्ते बनो पहले साधारण मनुष्य, जीते-जागते मनुष्य, ˘सते-खेलते मनुष्य, नहाये धोये मनुष्य, प्राकृतिक मनुष्य, जानवाले मनुष्य, पवित्र हृदय-पवित्र बुद्धिवाले मनुष्य; प्रेम भरे, रस भरे, दिल भरे, जान भरे, प्राण भरे मनुष्य। हल चलानेवाले, पसीना बहानेवाले, जान गँवानेवाले, सच्चे, कपट-रहित, दरिद्रता-रहित, प्रेम से भीगे हुए, अग्नि से सूखे हुए मनुष्य। आओ सब परिवार मिलकर कुछ यत्न करें।

# पुरानी हिन्दी

[ पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ]

हिन्दुस्तान का पुराने से पुराना साहित्य जिस भाषा में मिलता है उसे संस्कृत कहते हैं, परन्तु, जैसा कि उसका नाम ही दिखाता है, वह आर्यों की मूल भाषा नहीं है। वह मँजी, छँटी, सुधरी भाषा है। कितने हजार वर्ष के उपयोग से उसका यह रूप बना, किस 'कृत' से वह 'संस्कृत' हुई, यह जानने का कोई साधन नहीं बच रहा है। वह मानो गंगा की नहर है, नरौने के बाँध से उसमें सारा जल खैंच लिया गया है, उसके किनारे सम हैं, किनारों पर हरियाली और वृक्ष हैं, प्रवाह नियमित है। किन टेढ़े-मेढ़े किनारोंवाली, छोटी बड़ी, पथरीली रेतीली नदियों का पानी मोड़कर यह अच्छोद नहर बनाई गई और उस समय के सनातन-भाषा-प्रेमियों ने पुरानी नदियों का प्रवाह 'अविच्छिन्न' रखने के लिए कैसा कुछ आंदोलन मचाया या नहीं मचाया, यह हम जान नहीं सकते। सदा इस संस्कृत नहर को देखते-देखते हम असंस्कृत या स्वाभाविक, प्राकृतिक नदियों को भूल गए। और फिर जब नहर का पानी आगे स्वच्छंद होकर सम-तल और सूत से नपे हुए किनारों को छोड़कर जल स्वभाव से कहीं टेढ़ा, कहीं सीधा, कहीं गँदला, कहीं निखरा, कहीं पथरीली, कहीं रेतीली भूमि पर और कहीं पुराने सूखे मार्गों पर प्राकृतिक रीति से बहने लगा तब हम यह कहने लगे कि नहर से नदी बनी है, नहर प्रकृति है और नदी विकृति,—[ हेमचंद्र ने अपने प्राकृत व्याकरण का आरम्भ ही यों किया है कि संस्कृत प्रकृति

है, उससे आया इसलिए प्राकृत कहलाया ] यह नहीं कि नदी अब सुधारकों के पंजे से छूटकर फिर सनातन मार्ग पर आई है।

इस रूपक को बहुत बढ़ा सकते हैं। सम्भव है कि हमें इसका फिर भी काम पड़े। वेद या छंदस् की भाषा का जितना साम्य पुरानी प्राकृति से है उतना संस्कृत से नहीं। संस्कृत में छाना हुआ पानी ही लिया गया है। प्राकृतिक प्रवाह का मार्गक्रम यह है—

१—मूल भाषा, २—छंदस् की भाषा, ⟨ ३—प्राकृत—५—अपभ्रंश / ४—संस्कृत

संस्कृत अजर-अमर तो हो गई, किन्तु उसका वंश नहीं चला, वह कलमी पेड़ था। हाँ, उसकी संपत्ति से प्राकृत और अपभ्रंश और पीछे हिन्दी आदि भाषाएँ पुष्ट होती गईं और उसने भी समय समय पर इनकी भेंट स्वीकार की।

वैदिक ( छंदस् की ) भाषा का प्रवाह प्राकृत में बहता गया और संस्कृत में बँध गया। इसके कई उदाहरण हैं—( १ ) वेद में देवाः और देवासः दोनों हैं, संस्कृत में केवल 'देवाः' रह गया और प्राकृत आदि में 'आसस्' ( दुहरे 'जस्' ) का वंश 'आओ' आदि में चला, ( २ ) देवैः की जगह देवेभिः ( अधरेहि ) कहने की स्वतंत्रता प्राकृत को रिक्थक्रम ( विरासत ) में मिली, संस्कृत को नहीं, ( ३ ) संस्कृत में तो अधिकरण का 'स्मिन्' सर्वनाम में ही बँध गया, किन्तु प्राकृत में 'म्मि, म्हि' होता हुआ हिन्दी में 'में' तक पहुँचा, ( ४ ) वैदिक भाषा में षष्ठी या चतुर्थी के यथेच्छ प्रयोग की स्वतंत्रता थी वह प्राकृत में आकर चतुर्थी विभक्ति को ही उड़ा गई, किन्तु संस्कृत में दोनों, पानी उतर जाने पर चटानों पर चिपटी हुई काई की तरह, जहाँ की तहाँ रह गईं, ( ५ ) वैदिक भाषा का 'व्यत्यय' और 'बाहुलक' प्राकृत में

जीवित रहा और परिणाम यह हुआ कि अपभ्रंश में एक विभक्ति 'ह', 'हँ', ही, बहुत से कारकों का काम देने लगी, संस्कृत की तरह लकीर ही नहीं पिटती गई, ( ६ ) संस्कृत में पूर्वकालिक का एक 'त्वा' ही रह गया और 'य' भिंच गया, इधर 'त्वान' और 'त्वाय' और 'य' स्वतंत्रता से आगे बढ़ आये ( देखो, आगे )। ( ७ ) क्रियार्था क्रिया के कई रूपों में से ( जो धातुज शब्दों के द्वितीया, षष्ठी या चतुर्थी के रूप हैं ) संस्कृत के हिस्से में 'तुम्' ही आया और इधर कई, ( ८ ) कृ धातु का अनुप्रयोग संस्कृत में केवल कुछ लम्बे धातुओं के परोक्ष भूत में रहा, छंदस् की भाषा में और जगह भी था, किन्तु अनुप्रयोग का सिद्धान्त अपभ्रंश और हिन्दी तक पहुँचा। यह विषय बहुत ही बढ़ाकर उदाहरणों के साथ लिखा जाना चाहिए, इस समय केवल प्रसंग से इसका उल्लेख ही कर दिया गया है।

अस्तु अकृत्रिम भाषा प्रवाह में ( १ ) छंदस् की भाषा, ( २ ) अशोक की धर्मलिपियों की भाषा, ( ३ ) बौद्ध ग्रन्थों की पाली, ( ४ ) जैन सूत्रों की मागधी, ( ५ ) ललितविस्तर की गाथा या गड़बड़ संस्कृत और ( ६ ) खरोष्ठी और प्राकृत शिला-लेखों और सिक्कों की अनिर्दिष्ट प्राकृत—ये ही पुराने नमूने हैं। जैन सूत्रों की भाषा मागधी या अर्धमागधी कही गई है। उसे आर्ष प्राकृत भी कहते हैं। पीछे से प्राकृत वैयाकरणों ने मागधी, अर्धमागधी, पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि देशभेद के अनुसार प्राकृत भाषाओं की छाँट की, किन्तु मागधीवाले कहते हैं कि मागधी ही मूल भाषा है जिसे प्रथम कल्प के मनुष्य, देव और ब्राह्मण बोलते थे*। जिन पुराने नमूनों का हम उल्लेख

---

* हेमचन्द्र ने 'जिणिन्दाण वाणी' को देशीनाममाला के आरम्भ में 'असेसभासपरिणामिणी' कहकर वंदना करते हुए क्या अच्छा अवतरण दिया है—

कर चुके हैं, वे देश-भेद के अनुसार इस नामकरण में किसी एक में ही अंतर्भूत नहीं हो सकते। बौद्ध भाषा संस्कृत पर अधिक सहारा लिये हुए हैं, सिक्कों तथा लेखों की भाषा भी वैसी है। शुद्ध प्राकृत के नमूने जैन सूत्रों में मिलते हैं। यहाँ दो बातें और देख लेनी चाहिए। एक तो जिस किसी ने प्राकृत का व्याकरण बनाया उसने प्राकृत को भाषा समझकर व्याकरण नहीं लिखा। ऐसी साधारण बातों को छोड़कर कि प्राकृत में द्विवचन और चतुर्थी विभक्ति नहीं है, सारे प्राकृत व्याकरण केवल संस्कृत शब्दों के उच्चारण में क्या-क्या परिवर्तन होते हैं, इनकी परि-संख्या-सूची मात्र हैं। दूसरी यह कि संस्कृत नाटकों की प्राकृत को शुद्ध प्राकृत का नमूना नहीं मानना चाहिए। वह पंडिताऊ या नकली या गढ़ी हुई प्राकृत है, जो संस्कृत में मसविदा बनाकर प्राकृत व्याकरण के नियमों से, त की जगह य और त्त की जगह ख, रखकर, साँचे पर जमाकर गढ़ी गई है। वह संस्कृत मुहाविरे का नियमानुसार किया हुआ रूपांतर है, प्राकृत भाषा नहीं। हाँ, भास के नाटकों की प्राकृत शुद्ध मागधी है। पुराने काल की प्राकृत रचना, देश भेद के नियत हो जाने पर, या तो मागधी में हुई या महाराष्ट्री प्राकृत में; शौर-सेनी पैशाची आदि केवल भाषा में विरल देश-भेद मात्र रह गईं, जैसा कि प्राकृत व्याकरणों में उन पर कितना ध्यान दिया गया है, इससे स्पष्ट है। मागधी, अर्धमागधी तो आर्ष प्राकृत रहकर जैन सूत्रों में ही बन्द हो गई, वह भी एक तरह की छंदस् की भाषा बन गई, प्राकृत व्याकरणों ने महाराष्ट्री का पूरी तरह विवेचन कर उसी को आधार मानकर, शौरसेनी आदि के अन्तर को उसी के अप-

---

देवा दैवीं नरा नारीं शबराश्चापि शाबरीम्।
तिर्यञ्चोऽपि हि तैरश्चीं मेनिरे भगवद्गिरम्॥

बादों की तरह लिखा है। या यों कह दो कि देश-भेद से कई प्राकृत होने पर भी प्राकृत-साहित्य की प्राकृत—एक ही थी। जो पद पहले मागधी का था वह महाराष्ट्री को मिला। वह परम प्राकृत और सूक्ति-रत्नों का सागर कहलाई। राजाओं ने उसकी कदर की। हाल ( सातवाहन ) ने उसके कवियों की चुनी हुई रचना की सतसई बनाई, प्रवर-सेन ने सेतुबंध से अपनी कीर्ति उसके द्वारा सागर के पार पहुँचाई, वाक्पति ने उसी में गौड़वध किया, किन्तु यह पंडिताऊ प्राकृत हुई, व्यवहार की नहीं। जैनों ने धर्मभाषा मानकर उसका स्वतंत्र अनुशीलन किया और मागधी की तरह महाराष्ट्री भी जैन-रचनाओं में ही शुद्ध मिलती है। और छंदों के होने पर भी जैसे संस्कृत का 'श्लोक' अनुष्टुप् छंदों का राजा है, वैसे प्राकृत की रानी 'गाथा' है, लम्बे छंद प्राकृत में आये कि संस्कृत की परछाईं स्पष्ट देख पड़ी। प्राकृत कविता का आसन ऊँचा हुआ। यह कहा गया कि देशी शब्दों से भरी प्राकृत कविता के सामने संस्कृत की कौन सुनता है* और राजशेखर ने, जिसकी प्राकृत उसकी संस्कृति के समान ही स्वतन्त्र और उद्भट है, प्राकृत को मीठा और सस्कृत को कठोर कह डाला† ।

## शौरसेनी और पैशाची ( भूतभाषा )

इन प्राकृतों के भेदों में से हमें शौरसेनी और पैशाची का देश-निर्णय करना है। यद्यपि ये दोनों भाषाएँ मागधी और महा-

---

* ललिए महुरक्खरए जुवईयणवल्लहे ससिंगारे।
सते पाइयकव्वे को सक्कइ सक्कयं पढिउं ॥ ( बज्जालग्ग, २६ )

( ललित, मधुराक्षर, युवतीजनवल्लभ, सश्रृङ्गार प्राकृत कविता के होते हुए संस्कृत कौन पढ़ सकता है ? )

† परुसा सक्कअबंधा पाउअबधो बि होइ सुउमारो।
पुरुस महिलाणं जेन्तिअमिहंतरं तेत्तियमिमाणं ॥ ( कपूरमंजरी )

राष्ट्री से दब गई थीं और इनका विवेचन व्याकरणों में गौण या अपवाद-रूप से ही किया गया है, तथापि हिन्दी से इनका बड़ा सम्बन्ध है। शौरसेनी तो मथुरा ब्रजमंडल आदि की भाषा है। इसमें कोई बड़ा स्वतंत्र ग्रंथ नहीं मिलता, किन्तु इसका वही क्षेत्र है जो ब्रजभाषा, खड़ी बोली और रेखते की प्रकृत भूमि है। पैशाची का दूसरा नाम भूतभाषा है। यह गुणाढ्य की अद्भुतार्था बृहत्कथा से अमर हो गई है। वह 'बड्डुकथा' अभी नहीं मिलती। दो कश्मीरी पंडितों ( क्षेमेंद्र और सोमदेव ) के किए उसके संस्कृत अनुवाद मिलते हैं ( बृहत्कथामंजरी और कथासरित्सागर )। कश्मीर का उत्तरी प्रांत पिशाच ( पिश्-कच्चा मांस, अश्—खाना) या पिशाश देश कहलाता था और कश्मीर ही में बृहत्कथा का अनुवाद मिलने से पैशाची वहाँ की भाषा मानी जाती थी। किन्तु वास्तव में पैशाची या भूतभाषा का स्थान राजपूताना और मध्यभारत है। मार्कंडेय ने प्राकृत व्याकरण में बृहत्कथा को केकयपैशाची में गिना है। केकय तो कश्मीर का पश्चिमोत्तर प्रांत है। सम्भव है कि मध्यभारत की भूतभाषा की मूल बृहत्कथा का कोई रूपांतर उधर हुआ हो जिसके आधार पर कश्मीरियों के संस्कृतानुवाद हुए हैं*। राज-शेखर ने, जो विक्रम संवत् की दशवीं शताब्दी के मध्य भाग में था, अपनी काव्यमीमांसा में एक पुराना श्लोक उद्धृत किया है जिसमें उस समय के भाषा-निवेश की चर्चा है—"गौड़ ( बंगाल ) आदि संस्कृत में स्थित हैं, लाटदेशियों की रुचि प्राकृत में परिचित है, मरुभूमि, टक्क

---

( संस्कृत की रचना परुष और प्राकृतरचना सुकुमार होती है, जितना पुरुष और स्त्रियों में अंतर होता है, उतना इन दोनों में है। )

* लाकोटे वियना ओरिएंटल सोसाइटी का जर्नल, जिल्द ६४, पृ० ६५ आदि।

( टांक, दक्षिण पश्चिमी पंजाब ) और भादानक* के वासी अपभ्रंश प्रयोग करते हैं, अवंती ( उज्जैन ), पारियात्र ( बेतवा और चंबल का निकास ) और दशपुर ( मंदसोर ) के निवासी भूतभाषा की सेवा करते हैं, जो कवि मध्यदेश ( कन्नौज, अंतर्वेद, पंचाल आदि ) में रहता है, वह सर्व भाषाओं में स्थित है"। राजशेखर को भूगोल विद्या से बड़ी दिलचस्पी थी। काव्यमीमांसा का एक अध्याय का अध्याय भूगोल-वर्णन को देकर वह कहता है कि विस्तार देखना हो तो मेरा बनाया भुवनकोश देखो। अपने आश्रयदाता की राजधानी महोदय ( कन्नौज ) का उसे बड़ा प्रेम था। कन्नौज और पांचाल की उसने जगह-जगह पर बहुत बड़ाई की है। महोदय ( कन्नौज ) को मानो भूगोल का केंद्र माना है, कहा है दूरी की नाप महोदय से ही की जानी चाहिए, पुराने आचार्यों के अनुसार अंतर्वेदी से नहीं‡। इस महोदय की केंद्रता को ध्यान में रखकर उसका बताया हुआ राजा के कवि-समाज का निवेश बड़ा चमत्कार दिखाता है। वह कहता है कि राजा कविसमाज के मध्य में बैठे, उत्तर को संस्कृत के कवि ( कश्मीर, पांचाल ), पूर्व को प्राकृत ( मागधी की भूमि मगध ), पश्चिम को अपभ्रंश ( दक्षिणी पंजाब और मरुदेश ) और दक्षिण को भूतभाषा ( उज्जैन, मालवा ) आदि के कवि बैठें§। मानो राजा का कविसमाज भौगोलिक भाषानिवेश का मानचित्र

---

* बीजोल्यां के लेख में भी भादानक का उल्लेख है, यह प्रान्त राजपूताने में ही होना चाहिए।

‡ विनशनप्रयागयोर्गङ्गायमुनयोश्चांतरमंतर्वेदी। तदपेक्षया दिशो विभजेत इत्याचार्याः। तत्रापि महोदय मूलमवधीकृत्य इति यायावरः। ( काव्यमीमांसा पृ० ९४ )

§ काव्यमीमांसा, पृ० ५४-५५।

हुआ। यों कुरुक्षेत्र से प्रयाग तक अंतर्वेद, पांचाल और शूरसेन, और इधर मरु, अवंती, पारियात्र और दशपुर—शौरसेनी और भूतभाषा के स्थान थे।

## अपभ्रंश

बाँध से बचे हुए पानी की धाराएँ मिलकर अब नदी का रूप धारण कर रही थीं। उनमें देशी की धाराएँ भी आकर मिलती गईं। देशी और कुछ नहीं, बाँध से बचा हुआ पानी है, या वह जो नदीमार्ग पर चला आया, बाँधा न गया। उसे भी कभी कभी छानकर नहर में ले लिया जाता था। बाँध का जल भी रिसता रिसता इधर मिलता आ रहा था। पानी बढ़ने से नदी की गति वेग से निम्नाभिमुखी हुई, उसका 'अपभ्रंश' (नीचे को बिखरना) होने लगा। अब सूत से नये किनारे और नियत गहराई नहीं रही। राजशेखर ने संस्कृत वाणी को सुनने योग्य, प्राकृत को स्वभावमधुर, अपभ्रंश को सुभव्य और भूतभाषा को सरस कहा है*। इन विशेषणों की साभिप्रायता विचारने योग्य है। वह यह भी कहता है कि कोई बात एक भाषा में कहने से अच्छी लगती है, कोई दूसरी में, कोई दो तीन में †। उसने काव्य पुरुष का शरीर शब्द और अर्थ का बनाया है जिसमें संस्कृत को मुख, प्राकृत को बाहु, अपभ्रंश को जघन-स्थल, पैशाच को पैर और मिस्र को ऊरु कहा है। विक्रम की सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिन्दी में परिणत हो गई। इसमें देशी की प्रधानता है। विभक्तियाँ घिस गई हैं, खिर गई हैं, एक ही विभक्ति हुँ, या आहुँ कई कई काम देने लगी है। एक कारक की विभक्ति से दूसरे का भी काम

---

* बालरामायण।

† काव्यमीमांसा, पृ० ४८।

चलने लगा है। वैदिक भाषा की अविभक्तिक निर्देश की विरासत भी इसे मिली। विभक्तियों के खिर जाने से कई अव्यय या पद लुप्त विभक्तिक पद के आगे रखे जाने लगे, जो विभक्तियाँ नहीं हैं। क्रियापदों में मार्जन हुआ। हाँ, इसने केवल प्राकृत ही के तद्भव और तत्सम पद नहीं लिये, किन्तु धनवती अपुत्रा मौसी से भी कई तत्सम पद लिये*। साहित्य की प्राकृत साहित्य की भाषा ही हो चली थी, वहाँ गत भी गय और गज भी गय; काच, काक काय ( =शरीर ), कार्य सब के लिए काय। इसमें भाषा के प्रधान लक्षण—सुनने से अर्थबोध—का व्याघात होता था। अपभ्रंश में दोनों प्रकार के शब्द मिलते हैं। जैसे शौरसेनी, पैशाची, मागधी आदि भेदों के होते हुए भी प्राकृत एक ही था वैसे शौरसेनी अपभ्रंश, पैशाची अपशभ्रंश, महाराष्ट्री अपभ्रंश आदि होकर एक ही अपभ्रंश प्रबल हुई। हेमचन्द्र ने जिस अपभ्रंश का वर्णन किया है वह शौरसेनी के आधार पर है। मार्कंडेय ने एक 'नागर' अपभ्रंश की चर्चा की है जिसका अर्थ नगरवासी चतुर, शिक्षित ( गँवई से विपरीत ) लोगों की भाषा, या गुजरात के नागर ब्राह्मणों, या नगर ( वडनगर, वृद्धनगर ) के प्रांत की भाषा हो सकता है। गुजरात की अपभ्रंश-प्रधानता की चर्चा आगे है। किंतु उसके उस नगर का वडनगर या नगर नाम प्राचीन नहीं है इसलिए 'नगर की भाषा' अर्थ मानने पर मार्कंडेय के व्याकरण की प्राचीनता में शंका होती है।

---

* तद्भव प्रयोगों के अधिक घिस जाने पर भाषा में एक अवस्था आती है जब शुद्ध तत्समों का प्रयोग करने की टेव पड़ जाती है। हिन्दी में अब कोई जस या गुनवंत नहीं लिखता, यश और गुणवान लिखते हैं। बोलें चाहे तरों, पर्सोतम् और हर्किसुन, लिखेंगे तरह, पुरुषोत्तम और हरकृष्ण।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में कई श्लोक दिये हैं जिनमें वर्णन किया है कि किस देश के मनुष्य किस तरह संस्कृत और प्राकृत पढ़ सकते हैं। यहाँ इस पाठशैली के वर्णन की चर्चा कर देनी चाहिए। यह वर्णन रोचक भी है और कई अंशों में अब तक सत्य भी। उच्चारण का ढंग भी कोई चीज है। वह कहता है कि काशी से पूर्व की ओर जो मगध आदि देशों के वासी हैं वे संस्कृत ठीक पढ़ते हैं किन्तु प्राकृत भाषा में कुंठित हैं। बंगालियों की हँसी में उसने एक पुराना श्लोक उद्धृत किया है जिसमें सरस्वती ब्रह्मा से प्रार्थना करती है कि मैं बाज आई, मैं इस्तीफा पेश करती हूँ, या तो गौड़ लोग गाथा पढ़ना छोड़ दें, या कोई दूसरी ही सरस्वती बनाई जाय❀।

गौड़ देश में ब्राह्मण न अतिस्पष्ट, न अश्लिष्ट, न रूक्ष, न अतिकोमल, न मन्द और न अतितार स्वर से पढ़ते हैं। चाहे कोई रस हो, कोई रीति हो, कोई गुण हो, कर्णाट लोग घमंड से अन्त में टंकारा देकर पढ़ते हैं। गद्य, पद्य, मिश्र कैसा ही काव्य हो द्रविड़ कवि गाकर ही पढ़ेगा। संस्कृत के द्वेषी लाट प्राकृत को ललित मुद्रा से सुन्दर पढ़ते हैं। सुराष्ट्र† त्रवण,‡ आदि संस्कृत में अपभ्रंश के अंश मिलाकर एक ही तरह पढ़ते हैं। शारदा के प्रसाद से कश्मीरी सुकवि होते हैं, किन्तु उनका

---

❀ ब्रह्मन् विज्ञापयामि त्वां स्वाधिकारजिहासया।
गौडस्त्यजतु वा गाथामन्या वास्तु सरस्वती॥

† सोरठ—गुजरात काठियावाड़

‡ पश्चिमी राजपूताना। जोधपुर के राजा बाउक के वि॰ सं॰ ८९४ के शिलालेख में उसके चौथे पूर्वपुरुष शिलुक का त्रवणी और वल्ल देश तक अपने राज्य की सीमा नियत करना कहा गया है। वल्ल देश भाटियों का जैसलमेर है, त्रवणी उसके दक्षिण में होना चाहिए।

पाठक्रम क्या है, कान में मानो गिलोय की पिचकारी है। उत्तरापथ के कवि बहुत संस्कार होने पर भी गुन्ना ( नाक में ) पढ़ते हैं। पांचाल देशवालों का पाठ तो कानों में शहद बरसाता है, उसका कहना ही क्या*।

पुरानी अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत से मिलती है और पिछली पुरानी हिंदी से। हम ऊपर दिखा चुके हैं कि शौरसेनी और भूतभाषा की भूमि ही अपभ्रंश की भूमि हुई और वही पुरानी हिंदी की भूमि है। अंतर्वेद, व्रज, दक्षिणी पंजाब, टक्क, भादानक, मरु, त्रवण, राजपूताना, अवंती, पारियात्र, दशपुर और सुराष्ट्र—यहीं की यह भाषा एक ही मुख्य अपभ्रंश थी जैसे पहले देशभेद होने पर भी एक ही प्राकृत थी। अभी अपभ्रंश के साहित्य के अधिक उदाहरण नहीं मिले हैं, न उस भाषा के व्याकरण आदि की ओर पूरा ध्यान दिया गया है। अपभ्रंश कहाँ समाप्त होती है और पुरानी हिंदी कहाँ आरम्भ होती है इसका निर्णय करना कठिन किंतु रोचक और बड़े महत्त्व का है। इन दो भाषाओं के समय और देश के विषय में कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती। कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें अपभ्रंश भी कह सकते हैं, पुरानी हिंदी भी। संस्कृत ग्रंथों में लिखे रहने के कारण अपभ्रंश और पुरानी हिंदी की लेखशैली की रक्षा हो गई जो मुखसुखार्थ लेखनशैली में बदलती बदलती ऐसी हो जाती कि उसे प्राचीन समझने का कोई उपाय नहीं रह जाता। उसी प्राचीन लेखशैली को हिंदी की उच्चारणानुसारिणी शैली पर लिख दें (जिस प्रकार कि वह अवश्य ही बोली जाती होगी)

---

* मार्गानुगेन निनदेन निधिर्गुणानां
संपूर्णवर्णरचनो यतिभिर्विभक्तः।
पाञ्चालमण्डलभुवां सुभगः कवीनां
श्रोत्रे मधु क्षरति किञ्चन काव्यपाठः॥

तो अपभ्रंश कविता केवल पुरानी हिंदी हो जाती है और दुर्बोध नहीं रहती। इसलिए यह नहीं कह सकते कि पुरानी हिंदी का काल कितना पीछे हटाया जाय। हिंदी उपमावाचक 'जिमि' या 'जिम' ऐसी पुरानी कविता में 'जिम्वँ' लिखा मिलता है। उसके उच्चारण में प्रथम स्वर संयुक्ताक्षर के पहले होने से गुरु नहीं हो सकता ( जिम्म्व ) क्योंकि जिस छंद में वह आया है उसका भंग होता है। इसलिए चाहे वह 'जिम्वँ' लिखा हो उसका उच्चारण 'जिंव' था जो जिमि ही है। संस्कृत 'उत्पद्यते' का प्राकृत रूप 'उप्पज्जइ' है जो छूँट खिरकर 'उप्पजइ' के रूप में है। अब यह उप्पजइ अपभ्रंश माना जाय या पुरानी हिंदी ? 'जइ' का उच्चारणानुसार लेख करने से 'उपजै' हो जाता है ( संयुक्त प्रकार के कारण उ की मात्रा की गुरुता मान कर ऊपजै सही ) जिसे हम हिंदी पहचानते हैं। संभव है कि जैसे आजकल हिंदी के विद्वानों में 'गये' 'गए' पर दलादली है वैसे ही 'उपज्जइ, उपजइ, उपजै, ऊपजै' पर कई शताब्दियों तक चली हो, यद्यपि उसे अरुंतुद बनाने के लिए छापाखाना न था।

इन पोथियों के लिखनेवाले संस्कृत के पंडित या जैन साधु थे। संस्कृत शब्दों को तो उन्होंने शुद्धि से लिखा, प्राकृत को भी, किंतु इन कविताओं की लेखशैली पर ध्यान नहीं दिया। कभी पुराना रूप रहने दिया, कभी व्यवहार में परिचित नया रूप धर दिया। यह आगे के पाठांतरों से जान पड़ेगा।

ऐसी कविता के लिए 'पुरानी हिंदी' शब्द जान-बूझकर काम में लिया गया है। पुरानी गुजराती, पुरानी राजस्थानी, पुरानी पश्चिमी राजस्थानी, आदि नाम कृत्रिम हैं और वर्तमान भेद को पीछे की ओर ढकेलकर बनाये गये हैं। भेदबुद्धि दृढ़ करने के अतिरिक्त इनका कोई फल भी नहीं है। कविता की भाषा प्रायः सब जगह एक ही सी थी। जैसे नानक से लेकर दक्षिण के

हरिदासों तक की कविता 'व्रजभाखा' कहलाती थी वैसे अपभ्रंश को पुरानी हिंदी कहना अनुचित नहीं, चाहे कवि के देशकाल के अनुसार उनमें कुछ रचना प्रादेशिक हो।

पिछले समय में भी हिंदी कवि संत लोग विनोद के लिए एक आध पद गुजराती या पंजाबी में लिखकर अपनी वाणियाँ भाखा में लिखते रहे जैसे कि कुछ शौरसेनी, पैशाची का छींटा देकर कविता महाराष्ट्री प्राकृत में ही होती थी। मीराबाई के पद पुरानी हिंदी कहे जायँ या गुजराती या मारवाड़ी? डिंगल कविता गुजराती है या मारवाड़ी या हिंदी? कवि की प्रादेशिकता आने पर भी साधारण भाषा 'भाखा' ही थी। जैसे अपभ्रंश में कहीं कहीं संस्कृत का पुट है वैसे तुलसीदासजी रामायण को पूरबी भाषा में लिखते-लिखते संस्कृत में चले जाते हैं *। यदि छापा-खाना, प्रान्तीय अभिमान, मुसलमानों का फारसी अक्षरों का आग्रह, और नया प्रांतिक उद्बोधन न होता तो हिंदी अनायास ही देशभाषा बनी जा रही थी। अधिक छपने छापने, लिखने और झगड़ों ने भी इस गति को रोका।

आजकल लोग पृथ्वीराजरासे की भाषा को हिंदी का प्राचीन-तम रूप मानते हैं। उसका विचार हम अपभ्रंश के अवतरणों के विचार के पीछे करेंगे किंतु इतना कहे देते हैं कि यदि इन कविताओं को पुरानी हिंदी नहीं कहा जाय तो रासे की भाषा को राजस्थानी या 'मेवाड़ी-गुजराती-मारवाड़ी-चारणी-भाटी' कहना चाहिए, हिन्दी नहीं। व्रजभाषा भी हिन्दी नहीं और तुलसीदासजी की मधुर उक्तियाँ भी हिन्दी नहीं।

यह पुरानी कविता बिखरी हुई मिलती है। कोई मुक्तक शृङ्गार

---

* जैसे—कविहिं अगम जिमि ब्रह्मसुख अह ममभलिनजनेषु।
रन जीति रिपुदलमध्यगत पस्यामि राममनामयं॥ इत्यादि।

रस की कविता, कोई वीरता की प्रशंसा, कोई ऐतिहासिक बात, कोई नीति का उपदेश, कोई लोकोक्ति और वह भी व्याकरण के उदाहरणों में या कथा-प्रसंग में उद्धृत। मालूम होता है कि इस भाषा का साहित्य बड़ा था। उसमें महाभारत और रामायण की पूरी, या उनके आश्रय पर बनी हुई छोटी-छोटी, कथाएँ थीं। ब्रह्म और मुंज नाम के कवियों का पता चलता है। जैसे प्राकृत के पुराने रूप भी शृङ्गार की चटकीली मुक्तक गाथाओं में (सातवाहन की सप्तशती) या जैन-धर्मग्रन्थों में हैं. वैसे पुरानी हिंदी के नमूने भी या तो शृङ्गार या वीर रस के अथवा कहानियों के चुटकुले हैं, या जैन धार्मिक रचनाएँ। हेमचन्द्र की बड़ी बड़ाई कीजिए कि उसने प्राकृत उदाहरणों में तो पद या वाक्यों के टुकड़े ही दिये, पर ऐसी कविताओं के पूरे छंद उद्धृत किये। इसका कारण यही जान पड़ता है कि जिन पंडितों के लिए उसने व्याकरण बनाया, वे साधारण मनुष्यों की 'भाखा' कविता को वैसे प्रेम से नहीं कंठस्थ करते थे जैसे संस्कृत और प्राकृत को।

संस्कृत के श्लोक और प्राकृत की गाथा की तरह इस कविता का राजा दोहा है। सोरठा, छप्पय, गीत आदि और छंद भी हैं, पर इधर दोहा और उधर गाथा ही पुरानी हिन्दी और प्राकृत का भेदक है। 'दोहा' का नाम कई संस्कृताभिमानियों ने 'दोधक'* बनाया है, किन्तु शाब्दिक समानता को छोड़कर इसमें कोई सार नहीं है और संस्कृत में दोधक छंद दूसरा होने से इसमें धोखे की सामग्री भी है। दोहा पद की निरुक्ति दो की संख्या से है, जैसे चौपाई और छप्पय की—दो + पद, दो + पथ, या दो + गाथा। प्रबन्धचिंतामणि में एक जगह एक प्राकृत का 'दोधक' भी दिया है जो दोहा छंद में है। पूर्वार्द्ध सपादलक्ष (अजमेर-सांभर) के

---

* प्रबन्धचिंतामणि पृष्ठ—५६, १५७।

राजा ने समस्या की तरह भेजा था और उत्तरार्द्ध की पूर्ति हेमचन्द्र ने की थी* । यह ऐसा ही विरल विनोद जान पड़ता है जैसा कि आजकल हमारे मित्र भट्ट मथुरानाथजी के संस्कृत के मनहर दंडक और सवैये । प्रबन्धचिंतामणि में ही एक जगह दो चारणों को "दोहाविद्यया स्पर्द्धमानौ" अर्थात् दोहा विद्या से होड़ाहोड़ी करते हुए कहा गया है । उनकी कविताओं में एक दोहा है, एक सोरठा, किन्तु रचना 'दोहाविद्या' कही गई है यह बात ध्यान देने योग्य है । इसी प्रकार रेखता छंद से रेखते की बोली कहला गई थी ( रेखते के उस्ताद तुमही नहीं हो गालिब ! )

पुरानी हिन्दी का गद्य बहुत कम लिखा हुआ मिलता है । पद्य दो तरह रक्षित हुआ है,—मुख से और लेख से । दोनों तरह की रक्षा में लेखक के हस्तसुख और वक्ता के मुखसुख से इतने परिवर्तन हो गये हैं कि मूल शैली की विरूपता हो गई है । लिखनेवाला प्रचलित भाषा के ग्रन्थों या लोकप्रिय काव्यों में 'मक्खी के लिए 'मक्खी' नहीं लिखता । उसके बिना जाने ही कलम नये रूपों पर चल जाती है । गुसाईंजी के 'तइसइ', 'जुगुति', 'कालसुभाउ', 'अउरउ' अब क्रम से 'तैसेहि', 'युक्ति', कालस्वभाव और 'औरो' हो गये हैं । जो कविता मुख से कान, कान से मुख, चलती है उसमें तो बहुत ही परिवर्तन हो जाते हैं । हेमचंद्र के प्राकृत व्याकरण ( आठवें अध्याय ) के उदाहरणों में एक 'अपभ्रंश' या पुरानी हिंदी के दोहे को लीजिए । अपभ्रंश और पुरानी हिंदी में सीमारेखा बहुत ही अस्पष्ट है, और, जैसा कि आगे स्पष्ट हो जायगा, पुरानी हिंदी का समय बहुत ऊपर चढ़ जाता है । वह दोहा यह है—

---

* पहली ताव न अनुहरइ गोरीमुहकमलस्स ।
अदिट्ठी पुनि उन्नमइ पडिपयली चदस्स ॥ ( प्र० चिं०, पृ० १५७ )

वायसु उड्डावंतिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तडत्ति.॥

[ वियोगिनी कौआ उड़ाने लगी कि मेरा पिया आता हो तो उड़ जा। इतने में उसने अचानक पिया को देख लिया। कहाँ तो वह वियोग में ऐसी दुबली थी कि हाथ बढ़ाते ही आधी चूड़ियाँ जमीन पर गिर पड़ीं और कहाँ हर्ष से इतनी मोटी हो गई कि बाकी की चूड़ियाँ तड़-तड़ कर चटक गईं। ]

चारणों के मुख से कई पीढ़ियों तक निकलते निकलते राजपूताने में इस दोहे का अब यह मँजा हुआ रूप प्रचलित है—

काग उड़ावण जाँवती पिय दीठो सहसत्ति
आधी चूड़ी कागगल आधी टूट तडित्ति॥

निशाना ठीक लग गया, चूड़ियाँ जमीन पर न गिरकर कौए के गले में पहुँच गईं और चूड़ी टूटने का अशकुन भी मिट गया।

उसी व्याकरण में से एक दोहा और लीजिए—

पुत्तें जाएँ कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पीकी मुंहडो चम्पिज्जइ अवरेण॥

[ उस बेटे के जन्म लेने से क्या लाभ और मर जाने से क्या हानि कि जिसके होते बाप की धरती पर दूसरा अधिकार कर ले। ]

इस दोहे का परिवर्तन होते होते यह रूप हो गया है—

बेटा जायाँ कवण गुण अवगुण कवण धियेण ❀।
जो ऊभाँ† धर‡ आपणी गंजीजै§ अवरेण☧॥

---

❀ धी से, पुत्री से। † खड़े-खड़े। ‡ पृथ्वी, धरा। § गंजन की जाय, जीती जाय।

☧ मलसीसर के ठाकुर श्री भूरसिंहजी का विविध संग्रह, पृष्ठ ४८। इस सग्रह में यह दोहा तथा 'एहि ति घोड़ा थल०—' वाला दोहा ठाकुर

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि मूल दोहे में 'मुये पुत्र से क्या अवगुण' कहा गया है किंतु पीछे, स्त्री-जाति की ओर अपमानबुद्धि बढ़ जाने और उसका उत्तराधिकार न होने से 'धी ( पुत्री, संस्कृत दुहितृ, पंजाबी धी ) से क्या अवगुण' हो गया है। अस्तु। ऐसी दशा में जो पुरानी कविता या गद्य संस्कृत और प्राकृत के व्याकरण और छंद आदि के ग्रन्थों में, बच गया है, वह पुराने वर्ण-विन्यास की रक्षा के साथ उस समय की भाषा का वास्तव रूप दिखाता है।

---

साहब ने कविवर हेमचंद्र के नाम से दिया है किंतु ये हेमचंद्र की रचना नहीं, उससे पहले के हैं। उसने अपने व्याकरण में उदाहरण की तरह और बहुत-सी कविता के साथ दिये हैं।

# भारतीय साहित्य की विशेषताएँ

[ आचार्य बाबू श्यामसुन्दर दास ]

भौगोलिक कारणों से हो अथवा जलवायु के फलस्वरूप हो अथवा अन्य किसी कारण से हो, प्रत्येक देश अथवा जाति के साहित्य में कुछ न कुछ विशेषता होती है। जब

जातीय साहित्य

हम यूनानी साहित्य, अँगरेजी साहित्य अथवा भारतीय साहित्य का नाम लेते हैं और उनके सम्बन्ध में विचार करते हैं तो उनमें स्पष्ट रीति से कुछ ऐसी विशेषताएँ दिखाई देती हैं जिनके कारण उनके रूप ही कुछ विभिन्न जान पड़ते हैं तथा जिनके फलस्वरूप उनके स्वतन्त्र अस्तित्व की सार्थकता भी समझ में आ जाती है। यह सम्भव है कि कोई विशेष कलाकार किसी विशेष समय और कुछ विशेष परिस्थितियों से प्रभावान्वित होकर सामयिक जातीय आदर्शों से बहुत ऊँचे उठ जाय अथवा उनके विपरीत पथ का अनुसरण करे, परन्तु साहित्य के साधारण विकास में जातीय भावों तथा विचारों की छाप किसी न किसी रूप में अवश्य रहती है; और इसका एक कारण है।

प्रत्येक सभ्य तथा स्वतन्त्र देश का अपना स्वतन्त्र साहित्य तथा अपनी स्वतन्त्र कला होती है। भारतवर्ष में भी साहित्य तथा अन्यान्य कलाओं का स्वतन्त्र विकास हुआ और उनकी अपनी विशेषताएँ भी हुईं। भारतीय साहित्य तथा कला की विशेषताओं पर साधारण दृष्टि से विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन पर भारतीय आध्यात्मिक तथा लौकिक विचारों की गहरी छाप है। हम लोग प्राचीन काल से आदर्शवादी रहे हैं, हमें

वर्त्तमान स्थिति की इतनी चिन्ता कभी नहीं हुई जितनी भविष्य की चिन्ता रही है। यही कारण है कि हमारे साहित्य तथा अन्य ललित कलाओं में आदर्शवादिता की प्रचुरता देख पड़ती है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि साहित्य और कलाएँ हमारे भावों तथा विचारों का प्रतिबिम्ब मात्र हैं। सारांश यह कि जहाँ संसार की उन्नत जातियों की कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं, वहाँ उनके साहित्य आदि पर भी उन विशेषताओं का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। इन्हीं साहित्यिक विशेषताओं के कारण "जातीय साहित्य" का व्यक्तित्व निर्धारित होता है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या जातिगत विशेषताएँ सदा सर्वदा पुरातन आधारों पर ही स्थित रहती हैं अथवा समय और स्थिति के अनुसार आदर्शों में परिवर्तन के साथ उनमें भी परिवर्तन हो जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि समय, संसर्ग और स्थिति के प्रभाव से जातीय आदर्शों में परिवर्तन हो जाता है, पर उनके पुरातन आधारों का सर्वथा लोप नहीं होता। इन्हीं पुरातन आदर्शों की नींव पर नये आदर्शों की उद्भावना होती है। जहाँ कारणविशेष से ऐसा नहीं होने पाता वहाँ के नये आदर्शों के स्थायित्व में बहुत कुछ कमी हो जाती है। जातीयता के स्थायित्व के लिए आदर्शों की धारा का अक्षुण्ण रहना आवश्यक है। हाँ समय समय पर उस धारा की अंगपुष्टि के लिए नये आदर्शरूपी स्रोतों का उसमें मिलना आवश्यक और हितकर होता है। ठीक यही स्थिति साहित्यरूपी सरिता की भी होती है। जिस प्रकार किसी जाति के परम्परागत विचार तथा स्थिर दार्शनिक सिद्धान्त सहसा लुप्त नहीं हो सकते उसी प्रकार जातीय साहित्य तथा कलाएँ भी अपनी जातीयता का लोप नहीं कर सकतीं। जातीयता का लोप कलाओं के विकास में बाधाएँ

उपस्थित करता है। अतः उसका परित्याग अथवा उसकी अव-हेलना किसी अवस्था में उचित नहीं। प्रसिद्ध भारतीय चित्रकार फैजी रूमीन ने, अभी थोड़े दिन हुए, कहा है—

"भारतीय कला तो अब नष्ट हो गई है। न तो उसको ठीक ठीक समझनेवाले हैं और न उसका यथोचित सम्मान करनेवाले हैं। हमारे कलाकार ऐसी रचनाएँ करते हैं जिनमें मौलिकता होती ही नहीं। इसका कारण यह है कि ये कलाकार सच्चे भार-तीय भावों को भूलकर विदेशियों का अनुसरण कर रहे हैं। मेरी सम्मति में ये पश्चिमीय कलाकारों की समता कर ही नहीं सकते—विशेष कर ऐसी अवस्था में जब कि ये उनकी त्यक्त पुरानी शैलियों का उपयोग करते हैं। इसी बीच में वे अपनी स्वतन्त्र शैलियों को भूले जा रहे हैं।

"आजकल भारतीय विद्यालयों में जो कला की शिक्षा दी जाती है, वह बहुत भद्दी है, वह अधःपतित तथा निम्नश्रेणी की होती है। हम छात्रवृत्तियाँ देकर भारतीय विद्यार्थियों को कला की शिक्षा के लिए यूरोप भेजने का प्रबन्ध करते हैं। मेरी सम्मति में यह हमारी भूल है। मेरे विचार में उन्हें भारतीय कला की शिक्षा दी जानी चाहिए और उन्हें भारतीय शैली से परिचित होना चाहिए। पश्चिमीय कलाकारों की समता करने का प्रयास कभी सफल नहीं हो सकता।"

हिन्दी में जातीय साहित्य की योग्यता

अस्तु, उस अधिक व्यापक विषय को यहीं छोड़कर हमें अपने मुख्य विषय पर आना चाहिए। हमें हिन्दी साहित्य के विकास का इतिहास उपस्थित करना है। हम यह जानते हैं कि हिन्दी साहित्य का वंशगत सम्बन्ध प्राचीन भारतीय साहित्यों से है; क्योंकि संस्कृत तथा प्राकृत आदि की विकसित परम्परा ही हिन्दी कहलाई है। जिस प्रकार पुत्री अपनी

माता के रूप की ही नहीं, गुण की भी उत्तराधिकारिणी होती है, उसी प्रकार हिन्दी ने भी संस्कृत, पाली तथा प्राकृत आदि साहित्यों में अभिव्यंजित आर्यजाति की स्थायी चित्तवृत्तियों और उसके विचारों की परम्परागत सम्पत्ति प्राप्त की है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य में जातीय साहित्य कहलाने की पूरी योग्यता है। अतएव हम पहले भारतवर्ष के जातीय साहित्य की मुख्य मुख्य विशेषताओं का विचार करेंगे और तब हिन्दी साहित्य के स्वरूप का चित्र उपस्थित करने का उद्योग करेंगे।

हिंदी की विशेषताएँ

समस्त भारतीय साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता उसके मूल में स्थित समन्वय की भावना है। उसकी यह विशेषता इतनी प्रमुख तथा मार्मिक है कि केवल इसी के बल पर संसार के अन्य साहित्यों के सामने वह अपनी मौलिकता की पताका फहरा सकती है और अपने स्वतंत्र अस्तित्व की सार्थकता प्रमाणित कर सकती है। जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भारत के ज्ञान, भक्ति तथा कर्म के समन्वय की प्रसिद्धि है तथा जिस प्रकार वर्ण एवं आश्रम चतुष्टय के निरूपण द्वारा इस देश में सामाजिक समन्वय का सफल प्रयास हुआ है, ठीक उसी प्रकार साहित्य तथा अन्यान्य कलाओं में भी भारतीय प्रवृत्ति समन्वय की ओर रही है। साहित्यिक समन्वय से हमारा तात्पर्य साहित्य में प्रदर्शित सुख-दुःख, उत्थान-पतन, हर्ष-विषाद आदि विरोधी तथा विपरीत भावों के समीकरण तथा एक अलौकिक आनंद में उनके विलीन होने से है। साहित्य के किसी अंग को लेकर देखिए, सर्वत्र यही समन्वय दिखाई देगा। भारतीय नाटकों में ही सुख और दुःख के प्रबल घात-प्रतिघात दिखाये गये हैं पर सबका अवसान आनंद में ही किया गया है। इसका प्रधान कारण यह है कि भारतीयों का ध्येय सदा से जीवन का आदर्श स्वरूप उपस्थित करके उसका

उत्कर्ष बढ़ाने और उसे उन्नत बनाने का रहा है। वर्तमान स्थिति से उसका इतना संबंध नहीं है जितना भविष्य की संभाव्य उन्नति से है। हमारे यहाँ युरोपीय ढंग के दुःखांत नाटक इसी लिए नहीं देख पड़ते। यदि आजकल दो चार ऐसे नाटक देख भी पड़ने लगे हैं तो वे भारतीय आदर्श से दूर और युरोपीय आदर्श के अनुकरण मात्र हैं। कविता के क्षेत्र में ही देखिए। यद्यपि विदेशीय शासन से पीड़ित तथा अनेक क्लेशों से संतप्त देश निराशा की चरम सीमा तक पहुँच चुका था और उसके सभी अवलंबों की इतिश्री हो चुकी थी, पर फिर भी भारतीयता के सच्चे प्रतिनिधि तत्कालीन महाकवि गोस्वामी तुलसीदास अपने विकार-रहित हृदय से समस्त जाति को अश्वासन देते हैं—

भरे भाग अनुराग लोग कहै राम अवध चितवन चितई है।
बिनती सुनि सानंद हेरि हँसी करुनावारि भूमि भिजई है॥
राम राज भयो काज सगुन सुभ राजाराम जगत विजई है।
समरथ बड़ो सुजन सुसाहब सुकृत-सेन हारत जितई है॥

आनंद की कितनी महान् भावना है। चित्त किसी अननुभूत आनंद की कल्पना में मानो नाच उठता है। हिंदी साहित्य के विकास का समस्त युग विदेशीय तथा विजातीय शासन का युग था। इस कारण भारतीय जनता के लिए वह निराशा तथा संताप का युग था, परन्तु फिर भी साहित्यिक समन्वय का कभी अनादर नहीं हुआ। आधुनिक युग के हिंदी कवियों में यद्यपि पश्चिमीय आदर्शों की छाप पड़ने लगी है और लक्षणों के देखते हुए इस छाप के अधिकाधिक गहरी हो जाने की संभावना हो रही है परन्तु जातीय साहित्य की धारा अक्षुण्ण रखनेवाले कुछ कवि अब भी वर्तमान हैं।

यदि हम थोड़ा सा विचार करें तो उपर्युक्त साहित्यिक समन्वय वाद का रहस्य हमारी समझ में आ सकता है। जब

हम थोड़ी देर के लिए साहित्य को छोड़कर भारतीय कलाओं का विश्लेषण करते हैं तब उनमें भी साहित्य की ही भाँति समन्वय की छाप दिखाई पड़ती है। सारनाथ की बुद्ध भगवान् की मूर्ति में ही समन्वय की यह भावना निहित है। बुद्ध की वह मूर्ति उस समय की है जब वे छः महीने की कठिन साधना के उपरांत अस्थिपंजर मात्र ही रहे होंगे, पर मूर्ति में कहीं कृशता का पता नहीं, उसके चारों ओर एक स्वर्गीय आभा नृत्य कर रही है।

इस प्रकार साहित्य में भी तथा कला में भी एक प्रकार का आदर्शात्मक साम्य देखकर उसका रहस्य जानने की इच्छा और भी प्रबल हो जाती है। हमारे दर्शन-शास्त्र हमारी इस जिज्ञासा का समाधान कर देते हैं। भारतीय दर्शनों के अनुसार परमात्मा तथा जीवात्मा में कुछ भी अंतर नहीं, दोनों एक ही हैं. दोनों सत्य हैं, चेतन हैं तथा आनंद-स्वरूप हैं। बंधन मायाजन्य है। माया अज्ञान है, भेद उत्पन्न करनेवाली वस्तु है। जीवात्मा मायाजन्य अज्ञान को दूर कर अपना सच्चा स्वरूप पहचानता है और आनंदमय परमात्मा में लीन हो जाता है। आनन्द में विलीन हो जाना ही मानव जीवन का चरम उद्देश्य है। जब हम इस दार्शनिक सिद्धांत का ध्यान रखते हुए उपर्युक्त समन्वय वाद पर विचार करते हैं, तब सारा रहस्य हमारी समझ में आ जाता है तथा इस विषय में और कुछ कहने सुनने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

भारतीय साहित्य की दूसरी बड़ी विशेषता उसमें धार्मिक भावों की प्रचुरता है। हमारे यहाँ धर्म की बड़ी व्यापक व्याख्या की गई है और जीवन के अनेक क्षेत्रों में उसको स्थान दिया गया है। धर्म में धारण करने की शक्ति है अतः केवल आध्यात्म पक्ष में ही नहीं, लौकिक आचारों-विचारों तथा राजनीति तक

में उसका नियंत्रण स्वीकार किया गया है। मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को ध्यान में रखते हुए अनेक सामान्य तथा विशेष धर्मों का निरूपण किया गया है। वेदों के एकेश्वर-वाद, उपनिषदों के ब्रह्मवाद तथा पुराणों के अवतारवाद और बहुदेववाद की प्रतिष्ठा जन-समाज में हुई है और तदनुसार हमारा धार्मिक दृष्टिकोण भी अधिकाधिक विस्तृत तथा व्यापक होता गया है। हमारे साहित्य पर धर्म की इस अतिशयता का प्रभाव दो प्रधान रूपों में पड़ा। आध्यात्मिकता की अधिकता होने के कारण हमारे साहित्य में एक ओर तो पवित्र भावनाओं और जीवन संबंधी गहन तथा गंभीर विचारों की प्रचुरता हुई और दूसरी ओर साधारण लौकिक भावों तथा विचारों का विस्तार नहीं हुआ। प्राचीन वैदिक साहित्य से लेकर हिन्दी के वैष्णव साहित्य तक में हम यही बात पाते हैं। सामवेद की मनोहारिणी तथा मृदु-गंभीर ऋचाओं से लेकर सूर तथा मीरा आदि की सरस रचनाओं तक में सर्वत्र परोक्ष भावों की अधिकता तथा लौकिक विचारों की न्यूनता देखने में आती है।

उपर्युक्त मनोवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि साहित्य में उच्च विचार तथा पूत भावनाएँ तो प्रचुरता से भरी गईं, परन्तु उसमें लौकिक जीवन की अनेकरूपता का प्रदर्शन न हो सका। हमारी कल्पना अध्यात्म पक्ष में तो निस्सीम तक पहुँच गई परन्तु ऐहिक जीवन का चित्र उपस्थित करने में वह कुछ कुंठित सी हो गई। हिन्दी की चरम उन्नति का काल भक्तिकाव्य का काल है, जिसमें उसके साहित्य के साथ हमारे जातीय साहित्य के लक्षणों का सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है।

धार्मिकता के भाव से प्रेरित होकर जिस सरस तथा सुंदर साहित्य का सृजन हुआ, वह वास्तव में हमारे गौरव की वस्तु है, परन्तु समाज में जिस प्रकार धर्म के नाम पर अनेक ढोंग

रचे जाते हैं तथा गुरुडम की प्रथा चल पड़ती है, उसी प्रकार साहित्य में भी धर्म के नाम पर पर्याप्त अनर्थ होता है। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में हम यह अनर्थ दो मुख्य रूपों में देखते हैं। एक तो सांप्रदायिक कविता तथा नीरस उपदेशों के रूप में और दूसरा "कृष्ण" का आधार लेकर की हुई हिन्दी के शृङ्गारी कवियों की कविता के रूप में। हिन्दी में सांप्रदायिक कविता का एक युग ही हो गया है और "नीति के दोहों" की तो अब तक भरमार है। अन्य दृष्टियों से नहीं तो कम से कम शुद्ध साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से ही सही, सांप्रदायिक तथा उपदेशात्मक साहित्य का अत्यन्त निम्न स्थान है; क्योंकि नीरस पदावली में कोरे उपदेशों में कवित्व की मात्रा बहुत थोड़ी होती है। राधा-कृष्ण को आलंबन मानकर हमारे शृङ्गारी कवियों ने अपने कलुषित तथा वासनामय उद्गारों को व्यक्त करने का जो ढङ्ग निकाला वह समाज के लिए हितकर सिद्ध न हुआ। यद्यपि आदर्श की कल्पना करनेवाले कुछ साहित्य-समीक्षक इस शृङ्गारिक कविता में भी उच्च आदर्शों का उद्भावना कर लेते हैं, पर फिर भी हम वस्तुस्थिति की किसी प्रकार अवहेलना नहीं कर सकते। सब प्रकार की शृङ्गारिक कविता ऐसी नहीं है कि उसमें शुद्ध प्रेम का अभाव तथा कलुषित वासनाओं का ही अस्तित्व हो; पर यह स्पष्ट है कि पवित्र भक्ति का उच्च आदर्श, समय पाकर, लौकिक शरीर-जन्य तथा वासनामूलक प्रेम में परिणत हो गया था।

**साहित्य की देशगत विशेषताएँ**

यद्यपि भारतीय साहित्य की कितनी ही अन्य जातिगत विशेषताएँ हैं परन्तु हम उसकी दो प्रधान विशेषताओं के उपर्युक्त विवेचन से ही संतोष करके उसकी दो एक देशगत विशेषताओं का वर्णन करके यह प्रसंग समाप्त करेंगे। प्रत्येक देश के जलवायु अथवा भौगोलिक स्थिति का प्रभाव

उस देश के साहित्य पर अवश्य पड़ता है और यह प्रभाव बहुत कुछ स्थायी भी होता है। संसार के सब देश एक ही प्रकार के नहीं होते। जलवायु तथा गर्मी सर्दी के साधारण विभेदों के अतिरिक्त उनके प्राकृतिक दृश्यों तथा उर्बरता आदि में भी अन्तर होता है। यदि पृथ्वी पर अरब तथा सहारा जैसी दीर्घकाय मरुभूमियाँ हैं तो साइबीरिया तथा रूस के विस्तृत मैदान भी हैं। यदि यहाँ इँगलैंड तथा आयरलैंड जैसे जलावृत द्वीप हैं तो चीन जैसा भूखंड भी है। इन विभिन्न भौगोलिक स्थितियों का उन देशों के साहित्यों से सम्बन्ध होता है, इसी को हम साहित्य की देशगत विशेषता कहते हैं।

भारत की सस्यश्यामला भूमि में जो निसर्गसिद्ध सुषमा है, उससे भारतीय कवियों का चिर काल से अनुराग रहा है।

**हिन्दी की देशगत विशेषताएँ**

यों तो प्रकृति की साधारण वस्तुएँ भी मनुष्य मात्र के लिए आकर्षक होती हैं, परन्तु उसकी सुन्दरतम विभूतियों में मानव वृत्तियाँ विशेष प्रकार से रमती हैं। अरब के कवि मरुस्थल में बहते हुए किसी साधारण से झरने अथवा ताड़ के लंबे लंबे पेड़ों में ही सौंदर्य का अनुभव कर लेते हैं, तथा ऊँटों की चाल में ही सुन्दरता की कल्पना कर लेते हैं, परन्तु जिन्होंने भारत की हिमाच्छादित शैलमाला पर सन्ध्या की सुनहली किरणों की सुषमा देखी है, अथवा जिन्हें घनी अमराइयों की छाया में कलकल ध्वनि से बहती निर्झरिणी तथा उसकी समीपवर्तिनी लताओं की वसंतश्री देखने का अवसर मिला है, साथ ही जो यहाँ के विशालकाय हाथियों की मतवाली चाल देख चुके हैं उन्हें अरब की उपर्युक्त वस्तुओं में सौंदर्य्य तो क्या, हाँ उलटे नीरसता, शुष्कता और भद्दापन ही मिलेगा। भारतीय कवियों को प्रकृति की सुरम्य गोद में क्रीड़ा करने का सौभाग्य प्राप्त है;

वे हरे भरे उपवनों में तथा सुन्दर जलाशयों के तटों पर विचरण करते तथा प्रकृति के नाना मनोहारी रूपों से परिचित होते हैं। यही कारण है कि भारतीय कवि प्रकृति के संश्लिष्ट तथा सजीव चित्र जितनी मार्मिकता, उत्तमता तथा अधिकता से अंकित कर सकते हैं तथा उपमा-उत्प्रेक्षाओं के लिए जैसी सुन्दर वस्तुओं का उपयोग कर सकते हैं, वैसा रूखे-सूखे देशों के निवासी कवि नहीं कर सकते। यह भारत भूमि की ही विशेषता है कि यहाँ के कवियों का प्रकृति-वर्णन तथा तत्संभव सौंदर्यज्ञान उच्च कोटि का होता है।

प्रकृति के रम्य रूपों से तल्लीनता की जो अनुभूति होती है, उसका उपयोग कविगण कभी कभी रहस्यमयी भावनाओं के संचार में भी करते हैं। यह अखंड भूमंडल तथा असंख्य ग्रह-उपग्रह, रवि-शशि अथवा जल-वायु, अग्नि, आकाश कितने रहस्यमय तथा अज्ञेय हैं। इनकी सृष्टि, संचालन आदि के संबंध में दार्शनिकों अथवा वैज्ञानिकों ने जिन तत्त्वों का निरूपण किया है वे ज्ञानगम्य अथवा बुद्धिगम्य होने के कारण शुष्क तथा नीरस हैं। काव्यजगत् में इतनी शुष्कता तथा नीरसता से काम नहीं चल सकता, अतः कविगण बुद्धिवाद के चक्कर में न पड़ कर व्यक्त प्रकृति के नाना रूपों में एक अव्यक्त किन्तु सजीव सत्ता का साक्षात्कार करते तथा उससे भावमग्न होते हैं। इसे हम प्रकृतिसम्बन्धी रहस्यवाद कह सकते हैं, और व्यापक रहस्यवाद का एक अंग मान सकते हैं। प्रकृति के विविध रूपों में विविध भावनाओं के उद्रेक की क्षमता होती है; परन्तु रहस्यवादी कवियों को अधिकतर उसके मधुर स्वरूप से प्रयोजन होता है, क्योंकि भावनावेश के लिए प्रकृति के मनोहर रूपों की जितनी उपयोगिता होती है, उतनी दूसरे रूपों की नहीं होती। यद्यपि इस देश की उत्तरकालीन विचारधारा के कारण

हिन्दी में बहुत थोड़े रहस्यवादी कवि हुए हैं परन्तु कुछ प्रेम-प्रधान कवियों ने भारतीय मनोरम दृश्यों की सहायता से अपनी रहस्यमयी उक्तियों को अत्यधिक सरस तथा हृदय-ग्राही बना दिया है। यह भी हमारे साहित्य की एक देशगत विशेषता है।

हिन्दी के कलापक्ष की विशेषताएँ

ये जातिगत तथा देशगत विशेषताएँ तो हमारे साहित्य के भावपक्ष की हैं। इनके अतिरिक्त उसके कलापक्ष में भी कुछ स्थायी जातीय मनोवृत्तियों का प्रतिबिंब अवश्य दिखाई देता है। कलापक्ष से हमारा अभिप्राय केवल शब्द संघटन अथवा छंदो-रचना तथा विविध आलंकारिक प्रयोगों से ही नहीं है, प्रत्युत उसमें भावों को व्यक्त करने की शैली भी सम्मिलित है। यद्यपि प्रत्येक कविता के मूल में कवि का व्यक्तित्व अंतर्निहित रहता है और आवश्यकता पड़ने पर उस कविता के विश्लेषण द्वारा हम कवि के आदर्शों तथा उसके व्यक्तित्व से परिचित हो सकते हैं, परन्तु साधारणतः हम यह देखते हैं कि कुछ कवियों में प्रथम पुरुष एक वचन के प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक होती है तथा कुछ कवि अन्य पुरुष में अपने भाव प्रकट करते हैं। अँगरेजी में इसी विभिन्नता के आधार पर कविता के व्यक्तिगत तथा अव्यक्तिगत नामक विभेद हुए हैं परन्तु ये विभेद वास्तव में कविता के नहीं हैं, उसकी शैली के हैं। दोनों प्रकार की कविताओं में कवि के आदर्शों का अभिव्यंजन होता है, केवल इस अभिव्यंजन के ढंग में अंतर रहता है। एक में वे आदर्श, आत्मकथन अथवा आत्मनिवेदन के रूप में व्यक्त किये जाते हैं तथा दूसरे में उन्हें व्यंजित करने के लिए वर्णात्मक प्रणाली का आधार ग्रहण किया जाता है। भारतीय कवियों में दूसरी (वर्णात्मक) शैली की अधिकता तथा पहली की न्यूनता पाई

जाती है। यही कारण है कि यहाँ वर्णात्मक काव्य अधिक हैं तथा कुछ भक्त कवियों की रचनाओं के अतिरिक्त उस प्रकार की कविता का अभाव है, जिसे गीति काव्य कहते हैं और जो विशेषकर पदों के रूप में लिखी जाती है।※

साहित्य के कलापक्ष की अन्य महत्त्व-पूर्ण जातीय विशेषताओं से परिचित होने के लिए हमें उसके शब्द-समुदाय पर ध्यान देना पड़ेगा, साथ ही भारतीय संगीत शास्त्र की कुछ साधारण बातें भी जान लेनी होंगी। वाक्यरचना के विविध भेदों, शब्दगत तथा अर्थगत अलंकारों और अक्षर मात्रिक अथवा लघु गुरु मात्रिक आदि छंदसमुदायों का विवेचन भी उपयोगी हो सकता है। परन्तु एक तो ये विषय इतने विस्तृत हैं कि इन पर यहाँ विचार करना संभव नहीं और दूसरे इनका संबंध साहित्य के इतिहास से उतना पृथक् नहीं है जितना व्याकरण, अलंकार और पिंगल से है। तीसरी बात यह भी है कि इनमें जातीय विशेषताओं की कोई स्पष्ट छाप भी नहीं देख पड़ती, क्योंकि ये सब बातें थोड़े बहुत अंतर से प्रत्येक देश के साहित्य में पाई जाती हैं।

यद्यपि हमारे शब्द-समुदाय के संबंध में यह बात अनेक बार कही जा चुकी है कि यह अत्यधिक काव्योपयोगी है, परन्तु साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि

हिंदी का शब्द-समूह इसमें क्रियाओं के सूक्ष्म विभेदों तथा अनेक वस्तुओं के आकार-प्रकार तथा रूपरंग-संबंधी छोटे-छोटे अंतरों को व्यंजित करने की अधिक क्षमता नहीं है। सूर्य, चंद्रमा, वायु, मेघ तथा कमल आदि कवि-

---

※ आजकल हिंदी में अँगरेजी के ढंग की Lyric कविताएँ भी लिखी जाने लगी हैं परंतु ऐसी रचनाओं का अभी प्रारंभ ही हुआ है।

हृदयों को स्पर्श करनेवाली वस्तुओं के अनेक पर्यायवाची शब्द हैं, जिससे उनके समयोचित उपयोग में बड़ी सुगमता होती है और जिससे काव्य में विशेष चमत्कार आ जाता है। परंतु हरीतिमा के अनेक भेदों अथवा पक्षियों के उड़ने के अनेक स्वरूपों के व्यंजक शब्द हिंदी में नहीं मिलते। खड़ी बोली में तो क्रियापदों का अभाव इतना खटकता है कि हम प्रचलित व्याकरण के कुछ नियमों को शिथिल कर नवीन क्रियाएँ गढ़ लेने तक का विचार करने लगे हैं और "सरसाना", "विकसाना" आदि व्रज भाषा के रूपों को भी खड़ी बोली में लेने लगे हैं। हिंदी में भावों के अनुरूप भाषा लिखने का तो पर्याप्त सुभीता है, परंतु प्रत्येक शब्द में भावानुरूपता ढूँढ़ना मेरे विचार में भाषा-शास्त्र के नियमों के प्रतिकूल होगा। संस्कृत के स्त्रीलिंग "देवता" को हिंदी में पुलिंग बनाकर शब्द की भावात्मकता की रक्षा अवश्य हुई है; पर यह तो केवल एक उदाहरण है। इसके विपरीत संस्कृत के "कर्म" तथा "कार्य" को हिंदी में "काम" या "काज" बनाकर कर्म की स्वाभाविकता, कठोरता तथा कार्य की सच्ची गुरुता भुला दी गई है। कभी कभी तो हम अपने "स्वभाव-वैषम्य" के कारण शब्दों की सार्थकता का व्यर्थ विरोध करते हैं। प्रातः-कालीन सुषमा की सच्ची द्योतकता "उषा" शब्द में है। हमारे प्राचीन ऋषियों ने उस सुषमा पर मुग्ध होकर उसे देवीत्व तक प्रदान किया था और वह "सरस्वती" के समकक्ष समझी गई थी। उषा के उपरांत जब सुषुप्त संसार जागकर कर्म-क्षेत्र में प्रवेश करता है और जब समस्त स्थावर-जंगम पदार्थ चैतन्य तथा कर्मण्य हो उठते हैं, उस समय-द्योतक 'प्रभात' शब्द की कल्पना स्त्रीलिंग में करना हमारी अपनी दुर्बलता

कहलावेगी, "प्रभात" के पुरुषत्व में उससे कुछ भी अंतर न पड़ेगा। हमारे यह सब कहने का तात्पर्य यही है कि यद्यपि हिंदी का शब्द-कोश बहुत कुछ काव्योपयोगी है, तथापि उसमें कुछ त्रुटियाँ हैं। कभी-कभी उसकी त्रुटियाँ बहुत कुछ बढ़ा-चढ़ाकर कही जाती हैं और भाषा के विकासक्रम की अवहेलना कर उसकी जाँच अपने वैयक्तिक विचारों के आधार पर होती है। यदि ऐसा न हुआ करे तो हिंदी के शब्दों में भावानुरूपता की योग्यता संतोषजनक परिमाण में प्रतिष्ठित हो सकती है।

भारतीय संगीत की सबसे प्रधान विशेषता यह है कि उसमें स्वरों तथा लय का सामंजस्य स्थापित किया गया है।

हिंदी में भारतीय संगीत

यूरोपीय संगीत में लय पर अधिक ध्यान दिया गया है और स्वरों के सामंजस्य या राग की बहुत कुछ अवहेलना की गई है। इस देश में अत्यंत प्राचीन काल से संगीत की उन्नति होती आई है और अनेक संगीतशास्त्रीय ग्रंथों का निर्माण भी होता आया है। यहाँ का प्राचीन संगीत यद्यपि अपने शुद्ध रूप में अब तक मिलता है, परन्तु विदेशीय प्रभावों तथा अनेक देशभेदों के फल-स्वरूप उसकी 'देशी' नामक एक विभिन्न शाखा भी हो गई जिसका विकास निरंतर होता रहा। हिंदी साहित्य के विकास के काल में "देशी" संगीत प्रचलित हो चुका था, अतः उसमें 'देशी' संगीत का बहुत कुछ पुट पाया जाता है। इसके अतिरिक्त रागों और रागिनियों के अनेक भेदों का ठीक ठीक अभिव्यंजन करने की क्षमता जितनी हिंदी ने दिखलाई, साथ ही जितने सुचारु रूप से संगीत के अन्य अवयवों का विकास उसमें हुआ है वैसा अन्य किसी प्रांतीय भाषा में नहीं हुआ।

हमारे साहित्य पर उपर्युक्त जातिगत तथा देशगत प्रवृत्तियों का प्रभाव बहुत कुछ स्थायी है। इनके अतिरिक्त दो-एक अन्य प्रासंगिक बातें हैं जिनका हिंदी साहित्य के विकास से घनिष्ठ संबंध रहा है तथा जिन की छाप हिंदी साहित्य पर स्थायी नहीं तो चिरकालिक अवश्य है। पहली बात यह है कि हिंदी साहित्य के प्रारंभिक युग के पहले ही संस्कृत साहित्य उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचकर अधःपतित होने लगा था। जीवित साहित्यों में नवीन नवीन रचना-प्रणालियों के आविर्भाव तथा अन्य अभिनव उद्भावनाओं की जो प्रकृति होती है, उसका संस्कृत में अभाव हो चला था। अनेक रीति-ग्रंथों का निर्माण हो जाने के कारण साहित्य में गतिशीलता रह ही नहीं गई थी। नियमों का साम्राज्य उसमें विराज रहा था, उनका उल्लंघन करना तत्कालीन साहित्यकारों के लिए असम्भव सा था। वे नियम भी ऐसे वैसे न थे, वे बहुत ही कठोर तथा कहीं-कहीं बहुत ही अस्वाभाविक थे। इन्हीं के फेर में पड़कर साहित्य की स्वाभाविक प्रगति रुक सी गई थी और तत्कालीन संस्कृत में जीवन की गति तथा उल्लास नाम मात्र को भी नहीं रह गया था। संस्कृत कविता अलंकारों से लदी हुई जीवन-हीन कामिनी की भाँति निष्प्रभ तथा निस्सार हो चुकी थी। हिन्दी के स्वतन्त्र विकास में संस्कृत के इस स्वरूप ने बड़ी बड़ी रुकावटें डालीं। एक तो इसके परिणाम-स्वरूप हिन्दी काव्य का क्षेत्र बहुत कुछ परिमित हो गया; और दूसरे हिन्दी भाषा भी स्वाभाविक रूप से विकसित न होकर बहुत दिनों तक अव्यवस्थित बनी रही। यदि हिन्दी के भक्त कवियों ने अपनी प्रतिभा के बल से उपर्युक्त दुष्परिणामों का निवारण करने की सफल चेष्टा न की होती तो हिन्दी की आज कैसी स्थिति होती, यह ठीक ठीक नहीं कहा जा

हिंदी की दो अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ

सकता। खेद है कि भक्त कवियों की परम्परा के समाप्त होते ही हिन्दी के कवि फिर संस्कृत साहित्य के पिछले स्वरूप से प्रभावान्वित होकर उसका अनुसरण करने लगे. जिसके फलस्वरूप ाषा में तो सरलता तथा प्रौढ़ता आ गई, परन्तु भावों की नवीनता तथा मौलिकता बहुत कुछ जाती रही।

ध्यान देने की दूसरी बात यह है कि हिन्दी साहित्य का संपूर्ण युग अशान्ति, निराशा तथा पराधीनता का युग रहा है। हिन्दी के प्रारम्भिक काल में देश स्वतन्त्र अवश्य था, परन्तु उस समय तक उसकी स्वतन्त्रता में बाधाएँ पड़ने लग गई थीं और उसके सम्मुख आत्मरक्षा का कठिन प्रश्न उपस्थित हो चुका था। देश के लिए वह हलचल तथा अशान्ति का युग था। उसके उपरान्त वह युग भी आया जिसमें देश की स्वतन्त्रता नष्ट हो गई और देश के अधिकांश भाग मे विदेशीय तथा विजातीय शासन की प्रतिष्ठा हो गई। तब से अब तक थोड़े-बहुत अंतर से वैसी ही परिस्थिति बनी है। हमारे सम्पूर्ण साहित्य में करुणा की जो एक हलकी सी अन्तर्धारा व्याप्त मिलती है वह इसी के परिणामस्वरूप है। पुरानी हिन्दी के समस्त साहित्य में नाटकों, उपन्यासों तथा अन्य मनोरंजक साहित्यांगों का जो अभाव दिखाई देता है, वह भी बहुत कुछ इसी कारण से है। केवल कविता में ही जनता की स्थायी भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई और वही उनका इतिहास हुआ। परतन्त्र देश और कर ही क्या सकता था?

———

# श्रद्धा-भक्ति

[ आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ]

किसी मनुष्य में जन-साधारण से विशेष गुण या शक्ति का विकास देख उसके सम्बन्ध में जो एक स्थायी आनंद-पद्धति हृदय में स्थापित हो जाती है उसे श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धा महत्त्व की आनंदपूर्ण स्वीकृति के साथ-साथ पूज्य बुद्धि का संचार है। यदि हमें निश्चय हो जायगा कि कोई मनुष्य बड़ा वीर, बड़ा सज्जन, बड़ा गुणी, बड़ा दानी, बड़ा विद्वान्, बड़ा परोपकारी या बड़ा धर्मात्मा है तो वह हमारे आनंद का एक विषय हो जायगा। हम उसका नाम आने पर प्रशंसा करने लगेंगे, उसे सामने देख आदर से सिर नवायेंगे, किसी प्रकार का स्वार्थ न रहने पर भी हम सदा उसका भला चाहेंगे, उसकी बढ़ती से प्रसन्न होंगे और अपनी पोषित आनंद-पद्धति में व्याघात पहुँचने के कारण उसकी निंदा न सह सकेंगे। इससे सिद्ध होता है कि जिन कर्मों के प्रति श्रद्धा होती है उनका होना संसार को वांछित है। यही विश्व-कामना श्रद्धा की प्रेरणा का मूल है।

प्रेम और श्रद्धा में अंतर यह है कि प्रेम प्रिय के स्वाधीन कार्यों पर उतना निर्भर नहीं—कभी-कभी किसी का रूप मात्र, जिसमें उसका कुछ भी हाथ नहीं, उसके प्रति प्रेम उत्पन्न होने का कारण होता है। पर श्रद्धा ऐसी नहीं है। किसी की सुन्दर आँख या नाक देखकर उसके प्रति श्रद्धा नहीं उत्पन्न होगी. प्रीति उत्पन्न हो सकती है। प्रेम के लिए इतना ही बस है कि कोई मनुष्य हमें अच्छा लगे, पर श्रद्धा के लिए आवश्यक यह है कि

कोई मनुष्य किसी बात में बढ़ा हुआ होने के कारण हमारे सम्मान का पात्र हो। श्रद्धा का व्यापार-स्थल विस्तृत है; प्रेम का एकांत। प्रेम में घनत्व अधिक है और श्रद्धा में विस्तार। किसी मनुष्य से प्रेम रखनेवाले दो ही एक मिलेंगे, पर उसपर श्रद्धा रखनेवाले सैकड़ों, हजारों, लाखों क्या करोड़ों मिल सकते हैं। सच पूछिए तो इसी श्रद्धा के आश्रय से उन कर्मों के महत्त्व का भाव दृढ़ होता रहता है जिन्हें धर्म कहते हैं और जिनसे मनुष्य-समाज की स्थिति है। कर्ता से बढ़कर कर्म का स्मारक दूसरा नहीं। कर्म की क्षमता प्राप्त करने के लिए बार-बार कर्ता ही की ओर आँख उठती है। कर्मों से कर्ता की स्थिति को जो मनोहरता प्राप्त हो जाती है उसपर मुग्ध होकर बहुत-से प्राणी उन कर्मों की ओर प्रेरित होते हैं। कर्ता अपने सत्कर्म-द्वारा एक विस्तृत क्षेत्र में मनुष्य की सद्वृत्तियों के आकर्षण का एक शक्ति-केंद्र हो जाता है। जिस समाज में किसी ऐसे ज्योतिष्मान् शक्ति-केंद्र का उदय होता है उस समाज में भिन्न-भिन्न हृदयों से शुभ भावनाएँ मेघ-खंडों के समान उठकर तथा एक ओर और एक साथ अग्रसर होने के कारण परस्पर मिलकर, इतनी घनी हो जाती हैं कि उनकी घटा-सी उमड़ पड़ती है और मंगल की ऐसी वर्षा होती है कि सारे दुःख और क्लेश बह जाते हैं।

हमारे अंतःकरण में प्रिय के आदर्श रूप का संघटन उसके शरीर या व्यक्ति मात्र के आश्रय से हो सकता है, पर श्रद्धेय के आदर्श रूप का संघटन उसके फैलाये हुए कर्म-तंतु के उपादान से होता है। प्रिय का चिंतन हम आँख मूँदे हुए, संसार को भुलाकर करते हैं; पर श्रद्धेय का चिंतन हम आँख खोले हुए, संसार का कुछ अंश सामने रखकर करते हैं। यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है। प्रेमी प्रिय को अपने लिए और अपने को प्रिय के लिए संसार से अलग करना चाहता है। प्रेम में

केवल दो पक्ष होते हैं, श्रद्धा में तीन। प्रेम में कोई मध्यस्थ नहीं, पर श्रद्धा में मध्यस्थ अपेक्षित है। प्रेमी और प्रिय के बीच कोई और वस्तु अनिवार्य नहीं, पर श्रद्धालु और श्रद्धेय के बीच कोई वस्तु चाहिए। इस बात का स्मरण रखने से यह पहचानना उतना कठिन न रह जायगा कि किसी के प्रति किसी का कोई आनंदांतर्गत भाव प्रेम है या श्रद्धा। यदि किसी कवि का काव्य बहुत अच्छा लगा, किसी चित्रकार का बनाया चित्र सुन्दर जँचा और हमारे चित्त में उस कवि या चित्रकार के प्रति एक सुहृद्-भाव उत्पन्न हुआ तो वह श्रद्धा है; क्योंकि यह काव्य वा चित्र-रूप मध्यस्थद्वारा प्राप्त हुआ है।

प्रेम का कारण बहुत कुछ अनिर्दिष्ट और अज्ञात होता है; पर श्रद्धा का कारण निर्दिष्ट और ज्ञात होता है। कभी-कभी केवल एक साथ रहते-रहते दो प्राणियों में यह भाव उत्पन्न हो जाता है कि वे बराबर साथ रहें, उनका साथ कभी न छूटे। प्रेमी प्रिय के सम्पूर्ण जीवन-क्रम के सतत साक्षात्कार का अभिलाषी होता है। वह उसका उठना, बैठना, चलना, फिरना, सोना, खाना, पीना, सब कुछ देखना चाहता है। संसार में बहुत से लोग उठते-बैठते, चलते-फिरते हैं; पर सबका उठना-बैठना, चलना-फिरना उसको वैसा अच्छा नहीं लगता। प्रेमी प्रिय के जीवन को अपने जीवन से मिलाकर एक निराला मिश्रण तैयार करना चाहता है। वह दो से एक करना चाहता है। सारांश यह कि श्रद्धा में दृष्टि पहले कर्मों पर से होती हुई श्रद्धेय तक पहुँचती है और प्रीति में प्रिय पर से होती हुई उसके कर्मों आदि पर जाती है। एक में व्यक्ति को कर्मों-द्वारा मनोहरता प्राप्त होती है, दूसरी में कर्मों को व्यक्ति-द्वारा। एक में कर्म प्रधान है, दूसरी में व्यक्ति।

किसी के रूप को स्वयं देखकर हम तुरत मोहित होकर उससे

प्रेम कर सकते हैं, पर उसके रूप की प्रशंसा किसी दूसरे से सुनकर चट हमारा प्रेम नहीं उमड़ पड़ेगा। कुछ काल तक हमारा भाव लोभ के रूप में रहेगा, पीछे वह प्रेम में परिणत हो सकता है। बात यह है कि प्रेम एक मात्र अपने ही अनुभव पर निर्भर रहता है; पर श्रद्धा अपनी सामाजिक विशेषता के कारण दूसरों के अनुभव पर भी जगती है। रूप की भावना का बहुत कुछ संबंध व्यक्तिगत रुचि से होता है। अतः किसी के रूप और हमारे बीच यदि तीसरा व्यक्ति आया तो इस व्यापार में सामाजिकता आ गई; क्योंकि हमें उस समय यह ध्यान हुआ कि उस रूप से एक तीसरे व्यक्ति को आनन्द या सुख मिला और हमें भी मिल सकता है। जब तक हम किसी के रूप का बखान सुनकर 'वाह वाह' करते जायँगे तब तक हम एक प्रकार के लोभी अथवा रीझनेवाले या क़द्रदान ही कहलायँगे; पर जब हम उसके दर्शन के लिए आकुल होंगे, उसे बराबर अपने सामने ही रखना चाहेंगे, तब प्रेम का सूत्र-पात समझा जायगा। श्रद्धा-भाजन पर श्रद्धावान अपना किसी प्रकार का अधिकार नहीं चाहता, पर प्रेमी प्रिय के हृदय पर अपना अधिकार चाहता है।

श्रद्धा एक सामाजिक भाव है, इससे अपनी श्रद्धा के बदले में हम श्रद्धेय से अपने लिए कोई बात नहीं चाहते। श्रद्धा धारण करते हुए हम अपने को उस समाज में समझते हैं जिसके किसी अंश पर—चाहे हम व्यष्टि-रूप में उसके अन्तर्गत न भी हों—जान-बूझकर उसने कोई शुभ प्रभाव डाला। श्रद्धा स्वयं ऐसे कर्मों के प्रतिकार में होती है जिनका शुभ प्रभाव अकेले हमपर नहीं, बल्कि सारे मनुष्य समाज पर पड़ सकता है। श्रद्धा एक ऐसी आनन्दपूर्ण कृतज्ञता है जिसे हम केवल समाज के प्रतिनिधि-रूप में प्रकट करते हैं। सदाचार पर श्रद्धा और अत्याचार पर

क्रोध या घृणा प्रकट करने के लिए समाज ने प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिनिधित्व प्रदान कर रक्खा है। यह काम उसने इतना भारी समझा है कि उसका भार सारे मनुष्यों को बाँट दिया है, दो-चार माननीय लोगों के ही सिर पर नहीं छोड़ रक्खा है। जिस समाज में सदाचार पर श्रद्धा और अत्याचार पर क्रोध प्रकट करने के लिए जितने ही अधिक लोग तत्पर पाये जायँगे उतना ही वह समाज जाग्रत समझा जायगा। श्रद्धा की सामाजिक विशेषता एक इसी बात से समझ लीजिए कि जिस पर हम श्रद्धा रखते हैं उसपर चाहते हैं कि और लोग भी श्रद्धा रक्खें, पर जिसपर हमारा प्रेम होता है उससे और दस-पाँच आदमी प्रेम रक्खें,—इसकी हमें परवा क्या इच्छा ही नहीं होती; क्योंकि हम प्रिय पर लोभ-वश एक प्रकार का अनन्य अधिकार या इजारा चाहते हैं। श्रद्धालु अपने भाव में संसार को भी सम्मिलित करना चाहता है, पर प्रेमी नहीं।

जब तक समष्टि-रूप में हमें संसार के लक्ष्य का बोध नहीं होता और हमारे अंतःकरण में सामान्य आदर्शों की स्थापना नहीं होती तब तक हमें श्रद्धा का अनुभव नहीं होता। बच्चों में कृतज्ञता का भाव पाया जाता है। पर सदाचार के प्रति उस कृतज्ञता का नहीं जिसे श्रद्धा कहते हैं। अपने साथ किये जाने-वाले जिस व्यवहार के लिए वे कृतज्ञ होते हैं उसी को दूसरों के साथ होते देख कर्ता के प्रति कृतज्ञ होना वे देर में सीखते हैं—उस समय सीखते हैं जब वे अपने को किसी समुदाय का अंग समझने लगते हैं। अपने साथ या किसी विशेष मनुष्य के साथ किए जानेवाले व्यवहार के लिए जो कृतज्ञता होती है वह श्रद्धा नहीं है। श्रद्धालु की दृष्टि सामान्य की ओर होनी चाहिए, विशेष की ओर नहीं। अपने सम्बन्धी के प्रति किसी को कोई उपकार करते देख यदि हम कहें कि उसपर हमारी श्रद्धा हो गई है तो

यह हमारा पाषंड है, हम झूठ-मूठ अपने को ऐसे उच्च भाव का धारण-कर्ता प्रकट करते हैं। पर उसी सज्जन को दस-पाँच और ऐसे आदमियों के साथ जब हम उपकार करते देखें जिन्हें हम जानते तक नहीं और इस प्रकार हमारी दृष्टि विशेष से सामान्य की ओर हो जाय, तब यदि हमारे चित्त में उसके प्रति पहले से कहीं अधिक कृतज्ञता या पूज्य-बुद्धि का उदय हो तो हम श्रद्धालु की उच्च पदवी के अधिकारी हो सकते हैं। सामान्य रूप में हम किसी के गुण या शक्ति का विचार सारे संसार से संबद्ध करके करते हैं, अपने से या किसी विशेष प्राणी से संबद्ध करके नहीं। हम देखते हैं कि किसी मनुष्य में कोई गुण या शक्ति है जिसका प्रयोग वह चाहे जहाँ और जिसके प्रति कर सकता है।

श्रद्धा का मूल तत्त्व है दूसरे का महत्त्व स्वीकार। अतः जिनकी स्वार्थ-बद्ध दृष्टि अपने से आगे नहीं जा सकती अथवा अभिमान के कारण जिन्हें अपनी ही बड़ाई के अनुभव की लत लग गई है उनकी इतनी समाई नहीं कि वे श्रद्धा-ऐसे पवित्र भाव को धारण करें। स्वार्थियों और अभिमानियों के हृदय में श्रद्धा नहीं टिक सकती। उनका अंतःकरण इतना संकुचित और मलिन होता है कि वे दूसरों की कृति का यथार्थ मूल्य नहीं परख सकते।

स्थूल रूप से श्रद्धा तीन प्रकार की कही जा सकती है—

१—प्रतिभा-सम्बन्धिनी,

२—शील-सम्बन्धिनी और

३—साधन-सम्पत्ति-सम्बन्धिनी।

प्रतिभा से मेरा अभिप्राय अन्तःकरण की उस उद्भावित्रका क्रिया से है जिसके द्वारा कला, विज्ञान आदि नाना क्षेत्रों में नई-नई बातें या कृतियाँ उपस्थित की जाती हैं। यह ग्रहण और धारणा-शक्ति से भिन्न है, जिसके द्वारा इधर-उधर से प्राप्त ज्ञान

( विद्वत्ता ) संचित किया जाता है। कला-सम्बन्धिनी श्रद्धा के लिए श्रद्धालु में भी थोड़ी-बहुत मार्मिक निपुणता चाहिए, इससे उसका अभाव कोई भारी त्रुटि नहीं, वह क्षम्य है। यदि किसी उत्तम काव्य या चित्र की विशेषता न समझने के कारण हम कवि या चित्रकार पर श्रद्धा न कर सके तो यह हमारा अनाड़ीपन है—हमारे रुचि-संस्कार की त्रुटि है। इसका उपाय यही है कि समाज कला-सम्बन्धिनी मर्मज्ञता के प्रचार की व्यवस्था करे, जिससे विविध कलाओं के सामान्य आदर्श की स्थापना जन-समूह में हो जाय। पर इतना होने पर भी कला-सम्बन्धिनी रुचि की विभिन्नता थोड़ी-बहुत अवश्य रहेगी। अश्रद्धालु रुचि का नाम लेकर ईर्ष्या या अहंकार के दोषारोपण से बच जाया करेंगे।

पर शील-सम्बन्धिनी श्रद्धा प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। शील या धर्म के सामान्य लक्षण संसार के प्रत्येक सभ्य जन-समुदाय में प्रतिष्ठित हैं। धर्म ही से मनुष्य-समाज की स्थिति है; अतः उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार का रुचि-भेद, मत-भेद आदि नहीं। सदाचारी के प्रति यदि हम श्रद्धा नहीं रखते तो समाज के प्रति अपने कर्तव्य का पालन नहीं करते। यदि किसी को दूसरों के कल्याण के लिए भारी स्वार्थ त्याग करते देख हमारे मुँह से 'धन्य धन्य' भी न निकला तो हम समाज के किसी काम के न ठहरे, समाज को हमसे कोई आशा नहीं, हम समाज में रहने योग्य नहीं। किसी कर्म में प्रवृत्त होने के पहले यह स्वीकार करना आवश्यक होता है कि वह कर्म या तो हमारे लिए या समाज के लिए अच्छा है। इस प्रकार की स्वीकृति कर्म की पहली तैयारी है। श्रद्धा-द्वारा हम यह आनन्द-पूर्वक स्वीकार करते हैं कि कर्म के अमुक-अमुक दृष्टांत धर्म के हैं, अतः श्रद्धा धर्म की पहली सीढ़ी है। धर्म के इस प्रथम सोपान पर

प्रत्येक मनुष्य को रहना चाहिए, जिसमें जब कभी अवसर आवे तब वह कर्म-रूपी दूसरे सोपान पर हो जाय।

अब रह गई साधन-सम्पत्ति-सम्बन्धिनी श्रद्धा की बात। यहाँ पर साधन-सम्पन्नता का ठीक ठीक भाव समझ लेना आवश्यक है। साधन-सम्पत्ति का अनुपयोग भी हो सकता है, सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुपयोग भी हो सकता है। किसी को पद्य रचने की अच्छी अभ्यास-सम्पन्नता है। यदि शिक्षा-द्वारा उसके भाव उन्नत हैं, वह सहृदय है तो वह अपनी इस सम्पन्नता का उपयोग मनोहर उच्चभावपूर्ण काव्य प्रस्तुत करने में कर सकता है; यदि उसकी अवस्था ऐसी नहीं है तो वह या तो साधारण, भाव-शून्य गद्य को गीतिका, शिखरिणी आदि नाना छन्दों में परिणत करेगा या अपनी भद्दी और कुरुचिपूर्ण भावनाओं को छन्दो-बद्ध करेगा। उसके इस कृत्य पर श्रद्धा रखनेवाले भी बहुत मिल जायँगे। ऐसे व्यक्ति के प्रति जो श्रद्धा होती है वह साधन-सम्पन्नता पर ही होती है, साध्य की पूर्णता पर नहीं।

देशी कारीगरी, चित्रकारी, संगीत आदि में नियम-पालन के अभ्यास-द्वारा प्राप्त इस साधन-सम्पन्नता ही पर इधर बहुत दिनों से अधिक ध्यान दिया जाने लगा था और मानव-हृदय पर इन मनोहारिणी कलाओं के प्रभाव का बहुत कम विचार होने लगा था। बहुत-से पुराने मकानों की कारीगरी देखिए तो उसमें बहुत-सा काम गिचपिच किया हुआ दिखाई देगा, ऐसे महीन बेल-बूटों की भिन्न-भिन्न पटरियाँ दीवारों में जमाई हुई मिलेंगी जो बिना आँख को पास ले जाकर सटाये स्पष्ट न जान पड़ेंगे। सारे मकान को एक बार में देखने से इन सबों का सम्मिलित प्रभाव दृष्टि और मन पर क्या पड़ेगा, इसका कुछ भी विचार बनानेवालों ने नहीं किया, यह स्पष्ट दिखाई पड़ेगा। ऐसे कामों में

अभ्यास का तथा समय और श्रम के व्यय (या अपव्यय) का पूरा परिचय मिलता है; पर विचार और सहृदयता-पूर्वक उनके उपयोग का बहुत कम। समझने की बात है कि इमारत हाथ पर लेकर देखने की चीज़ नहीं है, दस-पाँच हाथ दूर पर खड़े होकर देखने की चीज़ है।

चित्रकारी की दशा भी इसी प्रकार की हो गई थी। राधा-कृष्ण कदम्ब के नीचे खड़े हैं। कदम्ब की एक-एक पत्ती अलग-अलग बारीकी के साथ बना दिखाई पड़ती है। राधा की चुनरी की एक-एक बूटी बड़ी सावधानी और मिहनत के साथ बनाई गई है। देखनेवाले को यह नहीं जान पड़ता कि वह कुछ दूर पर खड़ा होकर कदंब और राधा-कृष्ण को एक साथ देख रहा है, बल्कि यह जान पड़ता है कि कभी तो पत्तियाँ गिनने के लिए वह पेड़ पर चढ़ता है और कभी नमूना लेने के लिए चुनरी हाथ में लेता है। ऐसी रचनाओं के प्रति यदि श्रद्धा प्रकट की जायगी तो वह अभ्यास, श्रम और बारीकी अर्थात् साधन-संपन्नता के विचार से होगी, साध्य की पूर्णता अर्थात् कला के विचार से नहीं जिसका उद्देश्य मानव-हृदय पर मधुर प्रभाव डालना है।

संगीत के पेंच-पाँच देखकर भी हठयोग याद आता है। जिस समय कोई कलावन्त पक्का गाना गाने के लिए आठ अंगुल मुँह फैलाता है और 'आ-आ' करके विकल होता है उस समय बड़े-बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता है—दिन-दिन भर चुपचाप बैठे रहनेवाले बड़े-बड़े आलसियों का आसन डिग जाता है। जो संगीत नाद की मधुर गति-द्वारा मन में माधुर्य का संचार करने के लिए था वह इन पक्के लोगों के हाथ में पड़कर केवल स्वर-ग्राम की लम्बी-चौड़ी कवायद हो गया। श्रद्धालुओं के अंतःकरण की मार्मिकता इतनी स्तब्ध हो गई कि एक खर-स्वान के गले से भी इस लम्बी कवायद को ठीक उतरते देख उनके मुँह से 'वाह-

वाह' 'ओहोहो' निकलने लगा। काव्य पर शब्दालंकार आदि का इतना बोझ लादा गया कि उसका सारा रूप ही छिप गया। बात यह हुई कि इन विविध कलाओं के जितने अभ्यास-गम्य और श्रम-साध्य अंग थे वे तो हद से बाहर घसीटे गये और जितने सहृदयता से सम्बन्ध रखनेवाले थे उन पर ध्यान ही न रहा। यदि ये कलाएँ मूर्तिमान रूप धारण करके सामने आतीं तो दिखाई पड़ता कि किसी को जलोदर हुआ है, किसी को फीलपाव! इनकी दशा सोने और रत्नों से जड़ी गुठली धार की तलवार की-सी हो गई।

किसी मनुष्य में बहुत अधिक शारीरिक बल देख उस पर जनसाधारण की श्रद्धा होती है और होनी चाहिए। प्रो० राममूर्ति को मोटर रोकते, लोहे के मोटे-मोटे सीकड़ तोड़ते, छाती पर ४० मन का पत्थर रखते, हाथी खड़ा करते और गाड़ी दौड़ाते देख उनके शारीरिक बल के कारण उनपर श्रद्धा होती है। अब इस संपन्नता का वे सदुपयोग भी कर सकते हैं, दुरुपयोग भी कर सकते हैं और अनुपयोग भी कर सकते हैं। वे इसके द्वारा किसी भारी संकट से अपनी या दूसरे की रक्षा भी कर सकते हैं और किसी निरपराध को पीड़ित भी कर सकते हैं। पर हमारी श्रद्धा बिना सदुपयोग या दुरुपयोग की संभावना की कल्पना किये शुद्ध साधन-संपन्नता ही पर होती है। कोरे विद्वानों के प्रति जो श्रद्धा होती है वह भी साधन-संपन्नता ही के संबंध में होती है, उसके उपयोग की निपुणता या प्रतिभा पर निर्भर नहीं होती। विद्वत्ता किसी विषय की बहुत-सी बातों की जानकारी का नाम है जिसका संचय बहुत कष्ट, श्रम और धारणा से होता है। यह बात विद्वान् की प्रतिभा पर निर्भर है कि वह ज्ञान का भंडारी और उपयोग-कर्ता दोनों हो—अर्थात् वह उत्तम चिंतक, वक्ता, लेखक, अन्वेषक या कवि भी होकर उस संचित

साधन का उपयोग करे और अपने मूल विचारों का प्रभावपूर्ण प्रकाश करे। यदि विद्वान में यह प्रतिभा नहीं है—यह शक्ति नहीं है तो वह अपनी संचित जानकारी को कला-कुशल और प्रतिभाशाली लेखकों या तत्त्वान्वेषकों के सामने रख दे कि वे उससे आवश्यकतानुसार काम लें। इस रीति से उसकी विद्वत्ता सामाजिक उपयोग में आ जायगी।

भिन्न-भिन्न मानसिक संस्कार के लोगों में किसी विषय से संबंध रखनेवाली श्रद्धा भिन्न-भिन्न मात्रा की हुआ करती है। यदि किसी को शारीरिक बल, साहस या चतुराई पर अत्यंत अधिक श्रद्धा है तो वह इनका दुरुपयोग देखकर भी बनी रह सकती है। अत्याचारियों के बल, डाकुओं के साहस और लंपटों की चालाकी की तारीफ़ संसार में थोड़ी-बहुत होती ही है। एक बात और है। यदि किसी पर किसी एक विषय में अत्यंत अधिक श्रद्धा है तो उसकी अन्य विषयों की त्रुटियों पर ध्यान नहीं जाता और कभी ध्यान भी जाता है तो वे भी सुहावनी लगती हैं। कोई प्रतिभाशाली कवि विलासप्रिय, मद्यप या सनकी है तो जो अत्यंत काव्य-प्रेमी होंगे उनकी घृणा को उसके ये दुर्गुण पूर्ण रूप से आकर्षित न कर सकेंगे। यहाँ तक कि उसके इन दुर्गुणों की चर्चा भी वे बड़ी रुचि के साथ करेंगे और सुनेंगे। बात यह है कि मनुष्य का अंतःकरण एक है। उसकी एक साथ दो परस्पर-विरुद्ध स्थितियाँ नहीं हो सकतीं। इस प्रकार की मानसिक स्तब्धता को श्रद्धांधता कह सकते हैं। यद्यपि श्रद्धांध समाज में उतना अनर्थकारी नहीं हो सकता, उतना अपराधी नहीं ठहराया जा सकता, जितना मदांध, क्रोधांध या ईर्ष्यांध; पर उसकी श्रद्धा के बढ़ते-बढ़ते क्रियमाण रूप धारण करने पर और शील-संबंधिनी चेतना को बिल्कुल जवाब मिल जाने पर समाज के अनिष्ट में व्याज से सहायता पहुँच सकती है।

यदि किसी अपव्ययी और मद्यप कवि पर अत्यंत श्रद्धालु होकर कोई उसकी आर्थिक सहायता करता जाता है तो वह उस अन्याय और उपद्रव का थोड़ा-बहुत उत्तरदाता अवश्य होता है जो कविजी अपने सहवर्तियों के बीच करने में समर्थ होते हैं। यदि किसी पहलवान के बल पर प्रसन्न होकर कोई उसे हलवा-पूरी खाने के लिए कुछ महीना बाँधता है तो उसके गुंडेपन के कारण लोगों को पहुँची हुई पीड़ा के दोष का वह कम से कम उतना भाग अवश्य पा सकता है जितना इंद्रकृत हत्या की बँटाई के समय बहुतों को मिला था। उद्देश्य के अभाव के बल से यद्यपि इन दोनों श्रद्धालुओं पर दोष उतना सटीक नहीं लग सकता; पर समाज की दृष्टि में वे दान के पात्रता-संबंधी अविवेक के अभि-योग से नहीं बच सकते।

अब यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि शील, कला और साधन-संपत्ति—श्रद्धा के इन तीनों विषयों में से किसका ध्यान मनुष्य को पहले होना चाहिए और किसका पीछे। इसका बेधड़क यही उत्तर दिया जा सकता है कि जन-साधारण के लिए शील का ही सबसे पहले ध्यान होना स्वाभाविक है; क्योंकि उसका सम्बन्ध मनुष्य मात्र की सामान्य स्थिति-रक्षा से है। उसके अभाव में समाज या उस आधार की स्थिति ही नहीं रह सकती जिसमें कलाओं की उपयोगिता या मनोहारिता का प्रसार और साधन-संपत्ति की प्रचुरता का वितरण और व्यवहार होता है।

दूसरों की श्रद्धा संसार में एक अत्यंत वांछनीय वस्तु है; क्योंकि वह एक प्रकार का ऐसा परकीय निश्चय या विश्वास है जिसके सहारे स्वकीय कार्य सुगम होता है—जीवन की कठिनता कम होती है। जिसपर लोगों की अश्रद्धा होती है उसके लिए व्यवहार के सब सीधे और सुगम मार्ग बन्द हो जाते हैं—उसे या तो काँटों पर या ढाई कोस नौ दिन में चलना पड़ता है। पर

जो किसी प्रकार दूसरों की श्रद्धा संपादित कर लेता है उसके पैर रखने के लिए फूलों की पंखड़ियाँ—आज-कल लाल बनात—बिछाई जाती हैं। समाज में ये वस्तुएँ सच्चे गुणियों और परोपकारियों के लिए हैं, पर इन्हें छीनने और चुराने की ताक में बहुत-से चोर, चाई और लुटेरे रहते हैं जो इनके द्वारा स्वार्थ-साधन करना या अपनी तुच्छ मानसिक वृत्तियों को तृप्त करना चाहते हैं। इनसे समाज को हर घड़ी सावधान रहना चाहिए—इन्हें सामाजिक दण्ड देने के लिए उसे सदा सन्नद्ध रहना चाहिए। ये अनेक रूपों में दिखाई पड़ते हैं। कोई गेरुआ वस्त्र लपेटे धम का डंका पीटता दिखाई देता है, कोई देश-हितैषिता का लम्बा चोला पहने देशोद्धार की पुकार करता पाया जाता है।

मनुष्य किसी ओर तीन प्रकार से प्रवृत्त होता है—मन से, वचन से और कर्म से। इसमें से मन तो देखने-दिखाने की चीज नहीं। वाणी और कार्य-प्रणाली की नकल की जाती है; और बड़ी सफाई से की जाती है। हितोपदेश के गदहे ने तो बाघ की खाल ही ओढ़ी थी, पर ये लोग बाघ की बोली भी बोल लेते हैं। कहीं-कहीं केवल वचन ही से काम निकल जाता है। एक दिन मैं काशी की एक गली से जा रहा था। एक ठठेरे की दूकान पर कुछ परदेसी यात्री किसी बरतन का मोल-भाव कर रहे थे और कह रहे थे कि इतना नहीं—इतना लो तो लें। इतने ही में सौभाग्य-वश दूकानदारजी को ब्रह्मज्ञानियों के वाक्य याद आ गये और उन्होंने चट कहा—"माया छोड़ो और इसे ले लो।" सोचिए तो, काशी ऐसा पुण्यक्षेत्र! यहाँ न माया छोड़ी जायगी तो कहाँ छोड़ी जायगी? थोड़े दिन हुए, किसी लेखक ने कहीं पढ़ा कि प्रतिभाशाली लोग कुछ उग्रता और पागलपन लिये होते हैं।

तब से वे बराबर अपने में इन दोनों शुभ लक्षणों की स्थापना के यत्न में लगे रहते हैं। सुनते हैं कि पहले में वे कुछ कृत-कार्य भी हुए हैं; पर पागलपन की नकल करना कुछ हँसी-खेल नहीं, भूल-चूक से कुछ समझदारी की बातें मुँह से निकल ही जाती हैं।

जैसे और सब विद्याओं की. वैसी ही पर-श्रद्धाकर्षण की विद्या की भी आज-कल खूब उन्नति हुई है। आश्चर्य नहीं कि इसके लिए कुछ दिनों में एक अलग विद्यालय खुले। श्रद्धा के यथार्थ कारण का जितना ही अभाव हो आकर्षक को अपनी विद्या में उतना ही दक्ष समझना चाहिए। आज-कल सार्वजनिक उद्योगों की बड़ी धूम रहा करती है और बहुत से लोग निराहार परोपकार व्रत करते सुने जाते हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि पर-श्रद्धा के सहारे कार्य में सुगमता आती है, अतः किसी कार्य-साधन के लिए जो लोग प्रयत्न-द्वारा दूसरों के हृदय में श्रद्धा उत्पन्न करते हैं वे उस कार्य के अनुसार चतुर, नीति-कुशल, धूर्त या पाखंडी कहे जाते हैं। पर संसार में बहुत-से ऐसे लोग भी होते हैं जिन्हें अपने ऊपर पराई श्रद्धा के चिंतन से जो एक प्रकार का आनन्द मिलता है उसकी लत पड़ जाती है। वे पर-श्रद्धा को मनोरंजन या मानसिक भोग-विलास की एक सामग्री समझते हैं। वे पराई श्रद्धा केवल इसी निमित्त चाहते हैं और किसी उद्देश्य से नहीं। ऐसे पर-श्रद्धाभिलाषियों को मानसिक दुर्व्यसन रहता है और वे उसी प्रकार दुर्व्यसनी कहे जा सकते हैं जिस प्रकार शराबी, गँजेड़ी और चंडूबाज आदि। पर समाज की श्रद्धा ऐसे अपव्यय के लिए नहीं है, प्रयोजन के लिए है। ऐसे लोग अपनी धुन में कभी-कभी बड़े-बड़े सार्वजनिक कार्य भी छेड़ बैठते हैं जिनका होना उन्हें इतना अभीष्ट नहीं होता जितना अपने द्वारा होना। ये लोग पहचाने इस प्रकार जाते हैं कि ये

उन कार्यों से अपने नाम का वियोग घड़ी भर भी नहीं सह सकते; यहाँ तक कि यदि वे दूसरों को कोई ऐसा कार्य हाथ में लेते देखते हैं जिसमें समाज के साधुवाद की संभावना होती है तो इनका पेट फूलने लगता है और ये या तो गुप्त रूप से उसमें विघ्न की व्यवस्था करते हैं या कम-से-कम उसके महत्त्व को बहुत कम करके दिखाया करते हैं। दूसरी पहचान यह है कि ये लोग ऐसे ही काम ठानते हैं जिसका नाम और आडंबर बड़ा होता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि श्रद्धावान् अपनी श्रद्धा-द्वारा श्रद्धेय में कोई ऐसा परिवर्त्तन उपस्थित नहीं किया चाहता जिसका अपने लिए कोई अनुकूल फल हो। श्रद्धावान् श्रद्धेय को प्रसन्न करने की इच्छा कर सकता है; पर उस प्रसन्नता से आप कोई लाभ उठाने की नहीं। श्रद्धा न्याय-बुद्धि के पलड़े पर तुली हुई एक वस्तु है जो दूसरे पलड़े पर रक्खे हुए श्रद्धेय के गुण, कर्म आदि के हिसाब से होती है। श्रद्धा सत्कर्म या सद्गुण ही का मूल्य है जिससे और किसी प्रकार का सौदा नहीं हो सकता पर जब कि इस व्यापार-युग में ज्ञान बिकता है. न्याय बिकता है, धर्म बिकता है—तब श्रद्धा ऐसे भाव क्यों न बिकें? पर असली भाव तो इस लेन-देन के व्यवहार के लिए उपस्थित नहीं किये जा सकते। खैर, नकली सही। एक भाव पर दूसरे भाव की कलई करके हम बाजार में क्यों न जायँ? अपनी भीरुता या चापलूसी को हम 'श्रद्धा श्रद्धा' कहकर गलियों और संवाद-पत्रों में क्यों न पुकारें? ऐसे झूठे श्रद्धावानों से घिरकर झूठे श्रद्धा-पात्र सच्चे श्रद्धा-पात्रों को क्यों न मात करें, जब कि आज-कल झूठे मोती सच्चे मोतियों को मात करते हैं?

कला-कुशल या सदाचारी अपने चारों ओर प्रसन्नता देखना चाहता है; अतः अपनी श्रद्धा-द्वारा हम उसे अपनी प्रसन्नता का

निश्चय मात्र कराते हैं। हमारी प्रसन्नता से उसे अपनी सामर्थ्य का बोध हो जाता है और उसका उत्साह बढ़ता है। इस प्रकार अपनी श्रद्धा-द्वारा हम भी समाज का मंगल-साधन करते हैं। दूसरे की श्रद्धा का श्रद्धेय पर इतना ही प्रभाव पड़ना चाहिए, इससे अधिक नहीं। यदि हमारी श्रद्धा के कारण वह हमें किसी प्रकार का लाभ पहुँचाना चाहता है तो वह हमारी श्रद्धा को खुशामद समझता है और हमारा अपमान करता है। श्रद्धा में याचकता का भाव लेश मात्र भी नहीं है। श्रद्धा-द्वारा हम अपने हृदय का परिचय मात्र देते हैं कि उसमें मार्मिकता या धर्म-भाव है—सात्विक आचरण या प्रतिभा की कला से प्रसन्न होने की क्षमता है। यदि हमें किसी पर श्रद्धा है तो हमें उसके पास जाकर यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि 'महाराज! मेरी यह श्रद्धा स्वीकार हो'। इस प्रकार की स्वीकृति की हमें कोई आवश्यकता नहीं। हम अपनी श्रद्धा लिये अपने घर बैठे रह सकते हैं या उसे इस रीति से प्रकट कर सकते हैं जिस पर श्रद्धेय का कोई वश नहीं। यदि हमें किसी सुलेखक पर श्रद्धा है और वह हमसे रुष्ट है तो भी हम उसका सच्चा चित्र और चरित्र छाप सकते हैं। इसका स्वत्व हमें समाज-द्वारा प्राप्त है—इसका हक़ हमें कानूनन हासिल है। पर वही यदि हम उस सुलेखक से प्रेम करने चलें, उसके साथ-साथ लगे फिरें और हरदम उसे घेरे रहें तो वह हमें हटा सकता है। श्रद्धा प्रदर्शित करने का जितना विस्तृत सामाजिक अधिकार हमें प्राप्त है उतना उसके विपरीत भाव अश्रद्धा या घृणा प्रकट करने का नहीं; क्योंकि श्रद्धा यदि हमने भूल से या स्वार्थ-वश प्रकट की तो किसी की उतनी हानि नहीं, पर यदि घृणा भूल से या द्वेष-वश प्रकट की तो व्यर्थ का संताप और दुःख फैल सकता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि श्रद्धा के विषय तीन हैं—शील,

प्रतिभा और साधन-संपत्ति। शील या धर्म से समाज की स्थिति, प्रतिभा से रंजन, और साधन-सम्पत्ति से शील-साधन और प्रतिभा-विकास दोनों की संभावना है। श्रद्धेय समाज की स्थिति या सुख का विधान करता है और समाज उसकी स्थिति और सुख का विधान करता है। समाज अपने श्रद्धालु प्रतिनिधियों को कभी तो उसे आपत्ति से बचाने के लिए भेजता है—कभी कुछ भेंट उसके सामने रखने के लिए। श्रद्धा-वश जो दान दिया जाता है वह इसी प्रकार की भेंट है। सच्चा दान दो प्रकार का होता है—एक वह जो श्रद्धा-वश दिया जाता है, दूसरा वह जो दया-वश दिया जाता है। पंडितों, विद्वानों और धार्मिकों को जो दान दिया जाता है वह श्रद्धा-वश दिया जाता है; अंधों, लूलों और लँगड़ों को जो दान दिया जाता है वह दया-वश दिया जाता है। श्रद्धा सामर्थ्य के प्रति होती है और दया असामर्थ्य के प्रति। जन-साधारण अपनी दया द्वारा केवल असामर्थ्य के उपस्थित परिणामों का, कुछ स्थान के बीच और कुछ काल तक के लिए, निवारण कर सकते हैं; अतः श्रद्धा-द्वारा वे ऐसे असाधारण जनों को अपने वित्तानुसार थोड़ी-थोड़ी शक्ति-प्रदान करते हैं जो असामर्थ्य या असामर्थ्य के कारणों के निराकरण से समर्थ होते हैं।

श्रद्धा-वश दान में उपयोगिता का तत्त्व छिपा हुआ है। स्मृतियों में श्रद्धा-वश दान पर बड़ा जोर दिया गया है और ऐसे दान के विषय में पात्रापात्र का विचार भी खूब किया गया है। विद्या-दान में रत विद्वानों को, परोपकार में रत कर्म-वीरों को, मानव ज्ञान की वृद्धि में तत्पर तत्त्वान्वेषकों को जो अभाव हो उसे हमें समाज की भूख समझनी चाहिए। इन्हें जो कुछ हम श्रद्धा-वश देते हैं वह ठीक समाज के दुरुस्त पेट में जाता है, जहाँ से रस-रूप में उसका संचार अंग-अंग में होता है। इसके विरुद्ध

स्वार्थियों, अन्यायियों आदि को जो कुछ दिया जाता है वह समाज के अंग में उसी प्रकार नहीं लगता जिस प्रकार अतीसार या संग्रहणीवाले को खिलाया हुआ अन्न। भारतवर्ष में श्रद्धा का सम्बन्ध दान के साथ इतना गहरा समझा जाता है कि अश्रद्धा-पूर्वक दिया हुआ दान निष्फल माना जाता है; इसी से शुष्क प्रथानुसरण के रूप में भी यदि कुछ दिया जाता है तो श्रद्धा का नाम ले लिया जाता है। पंडों-पुरोहितों को देते हुए यजमान भी कहता है कि 'महाराज! इतनी ही श्रद्धा है' और पंडे-पुरोहित भी कहते हैं कि 'जितनी श्रद्धा हो उतना दो' यद्यपि इन पंडों और पुरोहितों के संबंध में सदा यह निश्चय नहीं रहता कि वे बड़े विद्वान्, बड़े धार्मिक या बड़े परोपकारी हैं। मनोविकार के उपयुक्त विषयों के निश्चय में कभी-कभी बुद्धि की भी थोड़ी-बहुत आवश्यकता होती है। क्योंकि एक ही व्यक्ति के प्रति किसी को श्रद्धा होती है और किसी को अश्रद्धा, इसका कारण घृणा के अंतर्गत अच्छी तरह दिखाया गया है।

श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है। जब पूज्य-भाव की वृद्धि के साथ श्रद्धा-भाजन के सामीप्य-लाभ की प्रवृत्ति हो, उसकी सत्ता के कई रूपों के साक्षात्कार की वासना हो, तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए। जब श्रद्धेय के दर्शन, श्रवण, कीर्तन, ध्यान आदि में आनंद का अनुभव होने लगे—जब उससे संबंध रखनेवाले श्रद्धा के विषयों के अतिरिक्त बातों की ओर भी मन आकर्षित होने लगे, तब भक्ति रस का संचार समझना चाहिए। जब श्रद्धेय का उठना, बैठना, चलना, फिरना, हँसना, बोलना, क्रोध करना आदि भी हमें अच्छा लगने लगे, तब हम समझ लें कि हम उसके भक्त हो गये। भक्ति की अवस्था प्राप्त होने पर हम अपने जीवन-क्रम का थोड़ा या बहुत अंश उसे अर्पित करने को प्रस्तुत होते हैं और उसके जीवन-क्रम पर भी

अपना कुछ प्रभाव रखना चाहते हैं। कभी हम अर्पण करते हैं और कभी याञ्चा करते हैं। सारांश यह कि भक्ति-द्वारा हम भक्ति-भाजन से विशेष घनिष्ठ संबंध स्थापित करते हैं—उसकी सत्ता में विशेष रूप से योग देना चाहते हैं। किसी के प्रति श्रद्धा धारण करके हम बहुत करेंगे समय-समय पर उसकी प्रशंसा करेंगे, उसकी निंदा करनेवालों से झगड़ा करेंगे या कभी कुछ उपहार लेकर उपस्थित होंगे; पर जिसके प्रति हमारी अनन्य भक्ति हो जायगी वह अपने जीवन के बहुत से अवसरों पर हमें अपने साथ देख सकता है—वह अपने बहुत से उद्योगों में हमारा योग-दान पा सकता है। भक्त वे ही कहला सकते हैं जो अपने जीवन का बहुत कुछ अंश स्वार्थ ( परिवार वा शारीरिक सुख आदि ) से विभक्त करके किसी के आश्रय से किसी ओर लगा सकते हैं। इसी का नाम है आत्मनिवेदन।

महात्माओं के ऊपर श्रद्धा मात्र करके हम उन्हें जीवन-शक्ति-द्वारा उपार्जित कोई फल-अर्पित कर सकते हैं; पर उनके भक्त होकर हम उन्हें अपने जीवन ही के कुछ अंश को अर्पित कर देते हैं। किसी वीर-व्रती महात्मा पर बहुत श्रद्धालु होकर हम आर्थिक सहायता-द्वारा उसके लिए कुछ सुबीता कर सकते हैं, अपने वचनों से उसे प्रसन्न और उत्साहित कर सकते हैं; पर उसके भक्त बनकर हम अपने शारीरिक बल को उसका शारीरिक बल बनायेंगे, अपनी जानकारी और चतुराई को उसकी जानकारी और चतुराई बनायेंगे, अपनी वाग्मिता को उसकी वाग्मिता बनायेंगे, अपनी तत्परता को उसकी तत्परता बनायेंगे; यहाँ तक कि जो कुछ हममें होगा उसे हम उसका कर डालेंगे और इस प्रकार उसके जीवन में अपने जीवन का योग देकर उसके सामाजिक महत्त्व या प्रभाव को बढ़ायेंगे और उसके थोड़े-बहुत हम भी भागी होंगे। श्रद्धा-द्वारा हम दूसरे के महत्त्व के किसी अंश

के अधिकारी नहीं हो सकते, पर भक्ति द्वारा हो सकते हैं। यहाँ तक कि दूसरे की भक्ति करके हम तीसरे की भक्ति के अधिकारी हो सकते हैं। राम पर अनन्य भक्ति करके हनूमान् अन्य राम-भक्तों की भक्ति के अधिकारी हुए।

श्रद्धालु महत्त्व को स्वीकार करता है, पर भक्त महत्त्व की ओर अग्रसर होता है। श्रद्धालु अपने जीवन-क्रम को ज्यों-का-त्यों छोड़ता है; पर भक्त उसकी काट-छाँट में लग जाता है। अपने आचरण-द्वारा दूसरों की भक्ति के अधिकारी होकर ही संसार के बड़े-बड़े महात्मा समाज के कल्याण-साधन में समर्थ हुए हैं। गुरु गोविंद-सिंह को यदि केवल दंडवत करनेवाले और गद्दी पर भेंट चढ़ाने वाले श्रद्धालु ही मिलते, दिन-रात साथ रहनेवाले—अपने सारे जीवन को अर्पित करनेवाले भक्त न मिलते तो वे अन्याय-दमन में कभी समर्थ न होते। इससे भक्ति के सामाजिक महत्त्व को, इसकी लोक-हितकारिणी शक्ति को स्वीकार करने में किसी को आगा-पीछा नहीं हो सकता। सामाजिक महत्त्व के लिए आवश्यक है कि या तो आकर्षित करो या आकर्षित हो। जैसे इस आकर्षण-विधान के बिना अणुओं द्वारा व्यक्त पिंडों का आविर्भाव नहीं हो सकता वैसे ही मानव जीवन की विशद अभिव्यक्ति भी नहीं हो सकती।

भक्ति में किसी ऐसे सान्निध्य की प्रवृत्ति होती है जिसके द्वारा हमारी महत्त्व के अनुकूल गति का प्रसार और प्रतिकूल गति का संकोच होता है। इस प्रकार का सामीप्य लाभ करके हम अपने ऊपर पहरा बिठा देते हैं—अपने को ऐसे स्वच्छ आदर्श के सामने कर देते हैं जिसमें हमारे कर्मों का प्रतिबिम्ब ठीक-ठीक दिखाई पड़ता है। जिसे अपनी वास्तविक क्षुद्रता का परिज्ञान अरुचिकर होगा वह सापेक्षिकता के भय से ऐसे महत्त्वादर्श का सामीप्य कभी न चाहेगा, दूर-दूर भागा फिरेगा। 'हमीं हम' वाले 'तुम भी'

नहीं सह सकते, 'तुम्हीं-तुम' की क्या बात है ? ऐसे लोग तो स्वयं अपने लिए भक्त ढूँढ़ने निकलते हैं। भक्ति के लिए दैन्य अर्थात् दूसरे के महत्त्व के साथ अपने लघुत्व की भावना पहली बात है। इस भावना को जब हम मुक्त हृदय से मुग्ध होकर धारण करेंगे और दूसरे पर श्रद्धा कर लेंगे. तब हम उसके महत्त्व के सतत साक्षात्कार के लिए—अनेक रूपों में परिचय के लिए—उसके सामीप्य की इच्छा करते हुए उस श्रद्धा में प्रेम का भी मिश्रण करेंगे और अपने बहुत-से क्रिया-कलाप को अपने पूज्य प्रेम-पात्र के अधीन करके स्वयं महत्त्व के अभ्यास में प्रवृत्त होंगे। जन-साधारण के लिए इस प्रकार के आश्रय द्वारा महत्त्व की प्राप्ति सुगम होती है। जो उच्च पथ पहले कष्टकर और श्रम-साध्य जान पड़ता है वही भक्ति के बल से मनोहर लगने लगता है।

व्यक्ति-सम्बन्ध हीन सिद्धान्त-मार्ग निश्चयात्मिका बुद्धि को चाहे व्यक्त हों, पर प्रवर्तक मन को अव्यक्त रहते हैं। वे मनोरंजनकारी तभी लगते हैं, जब किसी व्यक्ति के जीवन-क्रम के रूप में देखे जाते हैं। शील की विभूतियाँ अनन्त रूपों में दिखाई पड़ती हैं। मनुष्य-जाति ने जब से होश सँभला, तब से वह इन अनन्त रूपों को महात्माओं के आचरणों तथा आख्यानों और चरित्र-सम्बन्धी पुस्तकों में देखती चली आ रही है। जब इन रूपों पर मनुष्य मोहित होता है, तब सात्विक शील की ओर आप से आप आकर्षित होता है। शून्य सिद्धान्त वाक्यों में कोई आकर्षण शक्ति या प्रवृत्तिकारिणी क्षमता नहीं होती। 'सदा सत्य बोलो', 'दूसरे की भलाई करो', 'क्षमा करना सीखो'—ऐसे-ऐसे सिद्धान्त-वाक्य किसी को बार-बार बकते सुन वैसा ही क्रोध आता है जैसा किसी बेहूदे की बात सुनकर। जो इस प्रकार की बातें करता चला जाय उससे चट कहना चाहिए—'बस चुप रहो, तुम्हें बोलने की तमीज नहीं, तुम बच्चों या कोल-भीलों के पास जाओ।

ये बातें हम पहले से जानते हैं। मानव जीवन के बीच हम इनके सौंदर्य का विकास देखना चाहते हैं। यदि तुम्हें दिखाने की प्रतिभा या शक्ति हो तो दिखाओ, नहीं तो चुपचाप अपना रास्ता लो।' गुण प्रत्यक्ष नहीं होता, उसके आश्रय और परिणाम प्रत्यक्ष होते हैं। अनुभवात्मक मन को आकर्षित करनेवाले आश्रय और परिणाम हैं, गुण नहीं। ये ही अनुभूति के विषय हैं। अनुभूति पर प्रवृत्ति और निवृत्ति निर्भर है। अनुभूति मन की पहली क्रिया, संकल्प-विकल्प दूसरी। अतः सिद्धांत-पथों के सम्बन्ध में जो आनंदानुभव करने की बातें हैं—जो अच्छी लगने की बातें हैं, वे पथिकों में तथा उनके चारों ओर पाई जायँगी। सत्पथ के दीपक उन्हीं के हाथ में हैं—या वे ही सत्पथ के दीपक हैं। सत्त्वोन्मुख प्राणियों के लिए ऐसे पथिकों के सामीप्य-लाभ की कामना करना स्वाभाविक ही है।

सामीप्य से अभिप्राय केवल किसी के साथ-साथ लगा रहना नहीं है। श्रवण, कीर्तन और स्मरण आदि भी सामीप्य ही के विधान हैं। बाह्य और आभ्यंतर दोनों प्रयत्नों से सामीप्य की सिद्धि होती है। स्मरण-द्वारा हम अपने आराध्य को—उसके कर्म-क्षेत्र को अपने अंतःकरण के सामने उपस्थित करते हैं। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि जब हम इष्ट के कर्म-क्षेत्र को सामने लाते हैं तब उसमें ऐसे लोग भी तो आ जाते हैं जिन पर हमारी कुछ भी भक्ति नहीं। हाँ, अवश्य आते हैं। इनके द्वारा हमारे इष्ट के स्वरूप का पूर्ण विकास दिखाई पड़ता है—इनके बीच उनका (इष्ट का) रंग और खुल पड़ता है। यदि राम हमारे काम के हैं तो रावण भी हमारे काम का है। एक में हम अपने लिए प्रवृत्ति का क्रम पाते हैं, दूसरे में निवृत्ति का। जीवन में इस निवृत्ति और प्रवृत्ति का प्रवाह साथ-साथ चलता है। दुराचारी भी यदि अपने दुराचार का फल संसार के सामने पूर्ण

रूप से भोग लेता है तो समाज के लिए उपयोगी ठहर जाता है ! राम के हाथ से मारे जाने से रावण का जीवन भी सार्थक हो गया। यदि पापी अपने पाप का फल एकांत में या अपनी आत्मा ही में भोगकर चला जाता है तो वह अपने जीवन की सामाजिक उपयोगिता की एकमात्र संभावना को नष्ट कर देता है। इसी से बहुत से प्रायश्चित्तों के विधान में किये हुए पापों का सबके समक्ष कथन आवश्यक होता है।

पाप का फल छिपानेवाला पाप छिपानेवाले से अधिक अपराधी है। पर ऐसे बहुत-से लोग होते हैं जो किसी का घर जलाते हाथ जलता है तो कहते हैं कि होम करते जला है। दुराचारियों के जीवन का सामाजिक उपयोग करने के लिए ही—संसार में धर्म की मर्यादा स्थापित करने के लिए ही श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त किया। यदि अधर्म में तत्पर कौरवों का नाश न होता और पांडव जीवन भर मारे-मारे ही फिरते तो संसार में अन्याय और अधर्म की ऐसी लीक खिँच जाती जो मिटाये न मिटती। जिस समाज में सुख और वैभव के रंग में रँगी अधर्म की ऐसी लीक दिखाई पड़े उसमें रक्षा करनेवाली आत्मा का अभाव तथा विश्वात्मा की विशेष कला के अवतार की आवश्यकता समझनी चाहिए, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

यदा यदा हि धर्म्मस्य ग्लानिर्भवति, भारत !
अभ्युत्थानमधर्म्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

यदि कहीं पाप है, अन्याय है, अत्याचार है तो उनका आशु फल उत्पन्न करना और संसार के समक्ष रखना, लोक-रक्षा का कार्य है। अपने ऊपर किये जानेवाले अत्याचार और अन्याय का फल ईश्वर के ऊपर छोड़ना व्यक्तिगत आत्मोन्नति के लिए चाहे श्रेष्ठ हो; पर यदि अन्यायी या अत्याचारी अपना हाथ नहीं खींचता है तो लोक-संग्रह की दृष्टि से वह उसी प्रकार

आलस्य या कायरपन है जिस प्रकार अपने ऊपर किये हुए उपकार का कुछ भी बदला न देना कृतघ्नता है।

अब भगवद्भक्ति को लीजिए। ऊपर जो कुछ कहा गया उससे स्पष्ट हो गया होगा कि मनुष्य की भक्ति के आधार क्या-क्या हैं। मनुष्य विश्व-विधान का एक क्षुद्र चेतन अंश है। उसके धर्म, अधर्म, दया, निष्ठुरता आदि के भाव विश्व के उतने ही अंश से संबंध रखते हैं जितने के भीतर उसे कार्य करना है। यह कार्य और कुछ नहीं अपनी समष्टि-स्थिति और सुख-संतोष का प्रयत्न मात्र है। अपने कार्यक्षेत्र के बाहर यदि वह अपने भावों का सामंजस्य ढूँढ़ता है तो नहीं पाता है—कहीं उसे 'जीवो जीवस्य जीवनम्' का सिद्धान्त चलता दिखाई पड़ता है, कहीं लाठी और भैंस का। वह सोचता है कि इन बातों का अनुसरण मनुष्य-समाज में भी जान-बूझकर क्यों न किया जाय, यह नहीं सोचता कि मनुष्य-जाति की स्थिति इन अवस्थाओं से बहुत आगे बढ़ी है और चेतना की श्रेणी में उसके आगे की ओर कोई भूमि उसे दिखाई नहीं पड़ रही है। वह दया को निरर्थक समझ अपने अन्तःकरण का एक अंग ही खंडित करना चाहता है। वह किसी को काना देखकर अपनी भी एक आँख फोड़ने चलता है। कुछ दिनों पहले की सभ्यता मनुष्य-जीवन को देव-तुल्य बनाने में थी; अब मर्कट-तुल्य और मत्स्य-तुल्य बनाने में समझी जाने लगी है। पर यह सभ्यता जड़त्व और नाश की ओर ले जानेवाली है। जब हृदय की कुछ उदात्त वृत्तियाँ बोझ मालूम होने लगी हैं तब और प्राणियों की अपेक्षा अपने अन्तःकरण की पूर्णता का गर्व मनुष्य-जाति कब तक कर सकती है? उसके मार्मिक अंग की व्यापकता के ह्रास और स्तब्धता की वृद्धि के भयङ्कर परिणाम का आभास योरप में दे रहा है। अंतःकरण की जितनी वृत्तियाँ हैं उनमें से कोई निरर्थक नहीं—

सबका उपयोग है। इनमें से किसी की शक्ति फालतू नहीं। यदि मनुष्य इनमें से किसी को निष्क्रिय करने का अभ्यास डालेगा तो अपनी पूर्णता को खोयेगा और अपनी स्थिति को जोखों में डालेगा।

मिट्टी के ढेले, गुलाब के पौधे, कुत्ते और बिल्ली की अपेक्षा मनुष्य अपने में अंशी का अधिक अंश समझता है—उस सर्वात्मा का अधिक अंश समझता है—विश्व-विधान जिसकी नित्य-क्रिया है; अतः स्थिति रक्षा-विधान की जो-जो बातें अपने में हैं उनका अभाव उससे अंशी या सर्व में मानते नहीं बनता है। दया, दाक्षिण्य, प्रेम, क्रोध आदि अपनी अंशात्मा में देखते हुए सर्वात्मा में उनके अभाव की धारणा मनुष्य करे तो कैसे करे ? अतः ज्ञान-क्षेत्र में ईश्वर की खोज हम उतने ही घेरे में करेंगे जितने में इन्द्रियों की सहायता लेकर बुद्धि पहुँचती है, और कर्म-क्षेत्र में उसकी भावना हम उसे उतने ही भावों से परिमित करके करेंगे जितने की हमारे मन में जगह है। हम हैं, हम समझते हैं कि हम हैं और हम चाहते हैं कि हम रहें; ऐसी अवस्था में हम अपने स्थिति-रक्षा-संबंधी भावों को परमावस्था पर पहुँचाकर ही उस परमभावमय की भावना करेंगे। हम उसे धर्ममय, दयामय, प्रेममय मानेंगे और यह प्रेम उसी रूप का होगा जिस रूप में उसका व्यवहार मनुष्य-जाति में दिखाई पड़ता है—जिस रूप में मनुष्य-जाति को उसकी आवश्यकता पड़ती है। अत्याचारी से पीड़ित होकर मनुष्य उसके कोप का आह्वान करता है, आपद्-ग्रस्त होकर उसकी दया का भिखारी होता है, सुख से संपन्न होकर उसके धन्य-वाद के लिए हाथ उठाता है, भक्ति से पूर्ण होकर उसके आश्रय की वांछा करता है। ये ही व्यवहार वह मनुष्यों के साथ भी करता है।

अपने व्यवहार-पथ में आश्रय-प्राप्ति के निमित्त मनुष्य के लिए ईश्वर की स्वानुरूप भावना ही संभव है। स्वानुभूति ही द्वारा वह उस परमानुभूति की धारणा कर सकता है। इसी से भर्तृहरि ने 'स्वानुभूत्यै-कमानाय' कहकर नमस्कार किया है। यदि चिन्मय में अपनी इतनी अनुभूति का भी निश्चय मनुष्य को न हो तो वह प्रार्थना आदि क्यों करने जाय ? कुत्ते प्रार्थना क्यों नहीं करते ? उनमें धर्म की प्रतिष्ठा नहीं है—अर्थात् वे चेतना की उस भूमि तक नहीं पहुँचे हैं जिसमें समष्टिस्थिति की रक्षा से संबंध रखनेवाले भावों का संचार होता है। वे यह नहीं जानते कि एक दूसरे को काटने दौड़ने से कुक्कुर-समाज की उन्नति और वृद्धि नहीं हो सकती। समष्टि रक्षा या धर्म की ओर प्रवृत्त करनेवाले दया आदि भाव उन्हें प्राप्त नहीं हैं। उनमें स्वार्थ का भाव है, परमार्थ का भाव नहीं। 'धर्मोरक्षति रक्षितः' की धारणा उन्हें नहीं होती। जहाँ धर्म-भाव है वहीं ईश्वर की भावना है। जिन प्राणियों में जिन भावों का विकास नहीं हुआ है उनमें उनकी चरितार्थता की आवश्यकता प्रकृति नहीं समझती।

भक्ति का स्थान मानव हृदय है—वहीं श्रद्धा और प्रेम के संयोग से उसका प्रादुर्भाव होता है। अतः मनुष्य की श्रद्धा के जो विषय ऊपर कहे जा चुके हैं उन्हीं को परमात्मा में अत्यंत विशद रूप में देखकर ही उसका मन खिंचता है और वह उस विशद-रूप-विशिष्ट का सामीप्य चाहता है। उसके हृदय में जो सौंदर्य का भाव है, जो शील का भाव है, जो उदारता का भाव है, जो शक्ति का भाव है उसे वह अत्यंत पूर्ण रूप में परमात्मा में देखता है और ऐसे पूर्ण पुरुष की भावना से उसका हृदय गद्गद् हो जाता है और उसका धर्म-पथ आनंद से जगमगा उठता है। धर्म-क्षेत्र या व्यवहार-पथ में वह अपने मतलब भर ही ईश्वरता से प्रयोजन रखता है। राम, कृष्ण आदि अवतारों में परमात्मा की

विशेष कला देख एक हिंदू के हृदय की सारी शुभ और आनंद-मयी वृत्तियाँ उनकी ओर दौड़ पड़ती हैं, उसके प्रेम, श्रद्धा आदि को बड़ा भारी अवलंब मिल जाता है, उसके सारे जीवन में एक अपूर्व माधुर्य और बल का संचार हो जाता है। उनके सामीप्य का आनंद लेने के लिए कभी वह उनके अलौकिक रूप-सौंदर्य की भावना करता है, कभी उनकी बाल-लीला के चिंतन से विनोद प्राप्त करता है, कभी धर्म-बलपूर्ण उनके निर्मल चरित्र का गान करता है, कभी सिर झुकाकर वंदना करता है—यहाँ तक कि जब जी में आता है प्रेम से भरा उलाहना भी देता है। यह हृदय-द्वारा अर्थात् आनंद अनुभव करते हुए धर्म में प्रवृत्त होने का सुगम मार्ग है। भक्ति हृदय से की जाती है। बुद्धि से भक्ति करना ऐसा ही है जैसा नाक से खाना और कान से सूँघना। हमारे यहाँ भक्ति-विधान के अंतर्गत श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन ये नौ बातें ली गई हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कोरी श्रद्धा में याचकता का भाव नहीं है, जब प्रेम के साथ उसका संयोग होता है तभी इस भाव की प्राप्ति होती है। श्रद्धावान् श्रद्धेय पर अपने निमित्त किसी प्रकार का प्रभाव डालना नहीं चाहता, पर भक्त दाक्षिण्य चाहता है।

रामलीला, कृष्णलीला आदि सामीप्य-सिद्धि ही के विधान हैं। इस सामीप्य की कामना भक्तवर रसखान ने बड़ी मार्मिकता से इस प्रकार प्रकट की है—

मानुष हों तो वही 'रसखान'
बसौं सँग गोकुल गाँव के ग्वालन।
जौ पसु हों तो कहा बस मेरो,
चरौं मिलि नंद के धेनु मझारन॥

पाहन हों तो वही गिरि को,
जो किये हरि छत्र पुरन्दर-धारन।
जौ खग हों तो बसेरो करौं,
मिलि कूल कलिंदी कदंब के डारन॥

रामलीला-द्वारा लोग वर्ष में एक बार अपने पूज्य देव की आदर्श मानव लीला का माधुर्य देखते हैं। जिस समय दूर-दूर के गाँवों के लोग एक मैदान में आकर इकट्ठे होते हैं तथा एक ओर जटा-मुकुटधारी विजयी राम-लक्ष्मण की मधुर मूर्ति देखते हैं और दूसरी ओर तीरों से बिधा रावण का विशाल शरीर जलता देखते हैं उस समय वे धर्म के सौन्दर्य पर लुब्ध और अधर्म की घोरता पर क्षुब्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार जब हम कृष्णलीला में जीवन की प्रफुल्लता के साथ धर्म-रक्षा के अलौकिक बल का विकास देखते हैं, तब हमारी जीवन-धारण की अभिलाषा दूनी—चौगुनी हो जाती है। हिन्दू-जाति इन्हीं की भक्ति के बल से इतनी प्रतिकूल अवस्थाओं के बीच अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बचाती चली आई है—इन्हीं की अद्भुत आकर्षण-शक्ति से वह इधर-उधर ढलने नहीं पाई है। राम और कृष्ण को बिना आँसू बहाये छोड़ना हिन्दू-जाति क लिए सहज नहीं था, क्योंकि ये अवतार अलग टीले पर खड़े होकर उपदेश देनेवाले नहीं थे, बल्कि मानव जीवन में पूर्ण रूप से सम्मिलित होकर उसके एक-एक अंग की मनोहरता दिखानेवाले थे। मंगल के अवसरों पर उनके गीत गाये जाते हैं। विमाताओं की कुटिलता की, बड़ों के आदर की, दुष्टों के दमन की, जीवन के कष्ट की, घर की, वन की, संपद की, विपद की जहाँ चर्चा होती है वहाँ इनका स्मरण किया जाता है।

संसार से तटस्थ रहकर शान्ति-सुख-पूर्वक लोक-व्यवहार-सम्बन्धी उपदेश देनेवालों का उतना अधिक महत्त्व हिन्दू-धर्म में नहीं है जितना संसार के भीतर घुसकर उसके व्यवहारों के

बीच सात्विक विभूति की ज्योति जगानेवालों का है। हमारे यहाँ उपदेशक ईश्वर के अवतार नहीं माने गये हैं। अपने जीवन-द्वारा कर्म-सौन्दर्य संघटित करनेवाले ही अवतार कहे गये हैं। कर्म-सौन्दर्य के योग से उनके स्वरूप में इतना माधुर्य आ गया है कि हमारा हृदय आप से आप उनकी ओर खिंचा पड़ता है। जो कुछ हम करते हैं—खेलना, कूदना, हँसना, बोलना, क्रोध करना, शोक करना, प्रेम करना, विनोद करना—उन सबमें सौन्दर्य लाते हुए हम जिन्हें देखेंगे उन्हीं की ओर ढल सकते हैं। वे हमें दूर से रास्ता दिखानेवाले नहीं हैं, आप रास्ते में चलकर हमें अपने पीछे लगाने क्या खींचनेवाले हैं। जो उनके स्वरूप पर मोहित न हो वह निस्सन्देह जड़ है।

सुनि सीतापति सील सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ॥

जो उनका नाम सुनकर पुलकित होता है, जो उनके स्वरूप पर मोहित होता है, उसके सुधरने की बहुत कुछ आशा हो सकती है। जो संसार या मनुष्यत्व का सर्वथा त्याग न कर दें, उनके लिए शुद्ध सात्विक जीवन का यही मार्ग है। रागों के संपूर्ण दमन की अपेक्षा रागों का परिष्कार ज्यादा काम में आनेवाली बात है। निर्लिप्त रहकर दूसरों का गला काटनेवालों से लिप्त होकर दूसरों की भलाई करनेवाले लोक-कल्याण के विचार से कहीं अच्छे हैं।

जनता के संपूर्ण जीवन को स्पर्श करनेवाला क्षात्र-धर्म है। क्षात्र-धर्म के इसी व्यापकत्व के कारण हमारे मुख्य अवतार राम और कृष्ण क्षत्रिय हैं। क्षात्र-धर्म ऐकांतिक नहीं है। उसका सम्बन्ध लोक-रक्षा से है। 'कोई राजा होगा तो अपने घर का होगा' इससे बढ़कर झूठ बात शायद ही कोई और मिले। झूठे खिताबों के द्वारा यह कभी सच नहीं की जा सकती। कर्म-सौंदर्य

की योजना क्षात्र जीवन जितने रूप में संभव है, उतने रूपों में और किसी जीवन में नहीं। शक्ति के साथ क्षमा, वैभव के साथ विनय, पराक्रम के साथ रूप-माधुर्य, तेज के साथ कोमलता, सुख-भोग के साथ पर-दुःख-कातरता, प्रताप के साथ कठिन धर्म-पथ का अवलंबन इत्यादि कर्म-सौंदर्य के इतने अधिक प्रकार के उत्कर्ष-योग और कहाँ घट सकते हैं ! इसी से क्षात्र-धर्म के सौंदर्य में जो मधुर आकर्षण है, वह अधिक व्यापक, अधिक मर्म-स्पर्शी और अधिक स्पष्ट है। मनुष्य की सम्पूर्ण रागात्मिका वृत्तियों को उत्कर्ष पर ले जाने और विशुद्ध करने की सामर्थ्य उसमें है।

संसार में मनुष्य मात्र की समान वृत्ति कभी नहीं हो सकती। इस बात को भूलकर जो उपदेश दिये जाया करते हैं वे पाषंड के अंतर्गत आते हैं। वृत्तियों की भिन्नता के बीच से जो मार्ग निकल सकेगा वही लोक-रक्षा का मार्ग होगा—वही धर्म का चलता हुआ मार्ग होगा। जिसमें शिष्टों के आदर, दीनों पर दया, दुष्टों के दमन आदि जीवन के अनेक रूपों का सौंदर्य दिखाई पड़ेगा, वही सर्वांगपूर्ण लोक-धर्म का मार्ग होगा। क्षात्र-धर्म-पालन की आवश्यकता संसार में सब दिन बनी रहेगी। कोई व्यापार-युग उसे नहीं हटा सकता। किसी अनाथ अबला पर अत्याचार करने पर एक क्रूर पिशाच को हम उद्यत देख रहे हैं। समझाना-बुझाना या तो व्यर्थ है अथवा उसका समय ही नहीं है। ऐसी दशा में यदि उस अबला की रक्षा इष्ट है, तो हमें चटपट उस कर्म में प्रवृत्त होना होगा जिससे उस दुष्ट को बाधा पहुँचे। उस समय का हमारा क्रोध कितना सुन्दर और अक्रोध कितना गर्हित होगा !

---

# रंगों की बोली

[ पंडित माखनलाल चतुर्वेदी ]

[ अपने तरुण कूचीधारी को एक पत्र ]

चित्रकार मेरे,

कला के हृदय में पहुँचना होगा। ऐसा न हो कि बाहर के आकर्षण तुम्हें वस्तु की अन्तरात्मा तक पहुँचने न दें। जब बाहर के चित्रण पर भीतर की भावना प्रतिबिम्बित हो उठे, तभी तो चित्रण चमके—आवरण में आवेश और आत्म-समर्पण दोनों झाँक सके।

तुमने लोगों से बोलने का व्यापार बढ़ाया कि रंगों को अपनी वाणी बोलने में घबराहट होने लगेगी। किन्तु तुम अपना सब कुछ रंगों में बोलने लगे, तो देवत्व तुम्हारे घर बैठे दौड़ता आवेगा। उच्चारों पर अधिक न भटक, आकारों को तुम अपने जी की बात का उच्चार करने दो।

नाम धरनेवाले एक ही श्रेणी के नहीं होते। एक वे होते हैं जो तुम्हें विषयी, लालची, स्वार्थपर, धोखेबाज—न जाने किन-किन नामों से पुकारेंगे। कुछ ऐसे भी होंगे जो तुम्हें ईश्वरमय भक्ति-प्राण, प्रभु का सन्देश वहन करनेवाला, पूर्णपुरुष, संकेतपुरुष, रहस्यमय, संस्कृति का अवतार, शुद्धिवादी, अन्तःस्फूर्तिवादी और जन्मतः प्रगतिशील कलाकार कहेंगे; अपने असंस्कृत आकर्षणों को ऐसे ही सुसंस्कृत नाम दे-देकर तुम्हें पुकारेंगे। मेरे भाई, ये दोनों ही तुम्हारे ध्यान का पथ-भंग करते हैं। एक की अश्रद्धा यदि तुम्हारे तमोगुण को उकसाती है, तो दूसरे की श्रद्धा श्रद्धा-

पशु को आसपास बिखरे हुए श्रद्धा के दाने बीनते रहने के लिए रोक रखती है, वह तुम्हारी सूझ की उड़ान के पंखों में पत्थर बनकर लटक पड़ती है। श्रद्धा स्नेह, उत्तरदायित्व और इतिहास की वस्तु हो, वह तुम्हारे रुके रहने का स्थल नहीं होनी चाहिए। तुम्हारा पथ तो दोनों 'बदनामियों' से बचकर हो। श्रद्धा को जरा सिर से ऊँचे पर छोड़कर, और अश्रद्धा को जरा नीचे पर रौंद-कर। सच्ची साधारणता, असाधारणता से कहीं सच्ची, कहीं ईमानदार, कहीं यथार्थ 'प्राप्ति' है। असाधारणता की धारणा के अभिशाप से बचकर चलो राही!

रंगों पर उतरनेवाले गायक, अपनी कला-यात्रा में, भड़कीले रंगों के डाँडों से ही जीवन-नौका चलेगी, यह मत सोचो। लकड़ी का कोयला उठाकर, दीवार या कागज पर अन्तःकरण उतार चलो। फिर पानी में स्याही डालकर, अन्तर ही दुनिया आँखों पर लाकर, कूँची पर ले आओ। कभी कुछ रेखाएँ देकर प्राणों को आकृति दे दो; कभी रेखा पर रेखा को समुद्र-सी तरंगायमान कर वस्तु को विस्तार दे दो; कभी एक रेखा से दूसरी रेखा के बीच, गहरा, गरबीला, संकेत-दाता अन्तर देकर लाँबी-सी खाली जगह छोड़कर, शून्य में वस्तु का भान कराके प्राण भर दो।

चिउँटी-सी गति से, पत्ती पर, फिर फूलों पर जाओ। चिउँटी अपनी बाँबी में लौटने को लाचार होगी, किन्तु तुम्हारी तो कली ने सिर उठाया; पत्ती उस कली के दायीं ओर से जरा उसके कान में कानाफूसी-सी करने लगी; और दूसरी कली ने जहाँ जरा-सा मुह खोलकर झाँका कि तुम पूर्णता की उस बाँबी में पहुँच गये, जिसे ढूँढ़ने तुम्हारी अंगुलियाँ, रंग लेकर, कागज पर उतरी थीं।

अँगुली ही तेरी जीभ है चित्रकार! जिन ऊँचे-ऊँचे पर्वतों, हरे-भरे मैदानों, घनी-घनी झाड़ियों, दौड़ते-से झरनों, उठते-से पौधों, गिरते-से प्रपातों, कुछ ढूँढ़ते से मार्गों, कुछ घने पथ में

बिलम जाती-सी पगडंडियों, कुछ दूर भागने को कहती-सी गुफाओं और कुछ नजदीक आने के लिए कराहती-सी झोपड़ियों का चित्रण जब कवि करता है, तब बोली उसकी अपनी हो जाती है; किन्तु जब तेरी कूँची के हाथ पड़ते हैं तब वे अन्तर ही नहीं देते, आकार भी देते हैं। हरा-हरा जंगल कोयले से खींची काली तसवीर में ऐसा उतर आता है कि मानव-रुचि हरीतिमा की कमी ढूंढ़ने के बजाय दरख्तों के परिन्दों की खुली चोंचों का स्वर-सा सुनने लगती है। विधाता गिरफ़्तार है कि उसकी हर ऊग जमीन पर होगी; किन्तु रंग-प्राण! तुम तो जमीन पर, कागज पर, कपड़े पर, रेशम पर, परदे पर, जहाँ चाहो वहाँ, विधाता बनकर बैठ जाते हो। पिता का यह पक्षपात है कि पुत्र को अधिक दे। विधाता का यह पक्षपात तो देखो कि उसने अपने लिए मिट्टी रख ली, तुम्हारे सर्जन के लिए जमाना छोड़ दिया।

दुनिया अभी अभी रक्त से नहाई है; किन्तु सारे मुर्दे उठाकर फेंक दिये गये! केवल अस्पष्ट रहस्य से भरी, और अन्तरंग पूजा-भाव से राती, प्रार्थनाएँ मात्र उनके नाम पर हो जाती हैं; सो भी विजेता देशों में! मानो हस्तियाँ किंवदंतियों के चरणों में न्योछावर हो गई हैं। किन्तु शताब्दियों से चित्रों में चित्रित रंगों को लोगों ने युद्धों में भी सँभालकर रखा है कि कहीं उनकी कला नष्ट न हो जाय। कोटि-कोटि नर-मुंडों के बलिदान में भी रंग-रथी, तेरी कलम की गतियाँ, तेरी रंगीन स्मृतियाँ पीढ़ियाँ सँभालकर रखती आई हैं। तेरे रंगों का एक खिलवाड़ पीढ़ियों का पोषण और उत्तरदायित्व बन जाता है। रेलगाड़ी के छोटे डब्बों-जैसी तंग कोठरी में हिमालय से दूर जाती हुई गंगा के गद्य किनारों पर जो ऊँचाई-नीचाई से सर्वथा रहित हैं, किसी तंग शहर की घनी बस्ती की घिनी गलियों में, जब तू अपनी आँखों के हिंडोलों को, रँग-रलियों के साथ कागज पर उतारता है, तब

उस पर बर्फीला महान नगाधिराज हिमालय और उसके आस-पास के लाँबे-लाँबे मैदान. दर्शक को यह भुला ही देते हैं कि वह नगर के नरक में खड़ा है कि चित्रकार की कूँची के स्वर्ग पर चढ़ गया है। जब तेरे चित्रों की चाह के दर्शक की आँखें तेरी कला के वृक्ष के काँटों से उलझती हैं, तब अपनी आकृति से अमर हर काँटा, पुतलियों को, वृक्ष के फलों-सा मीठा स्वाद दे जाता है।

भयभीत होने की जरूरत नहीं कि घर में कभी कोई चित्रकार नहीं हुआ। चित्रकारों के खानदान नहीं हुआ करते, शेरों की भीड़ नहीं हुआ करती, आसमान की बिजलियाँ सौ-सौ मिलकर रास नहीं रचा पातीं। तुम अकेले आये हो पन्थी, तुम्हारी जात तुम्हारे बाप-दादों की परम्परा में नहीं; तुम्हारी कल्पना, कलम, कलह, केलि और कलरव से भींगे तुम्हारे रंगों के उत्थान और पतन में लिखी है।

तुमने अपने रंगों का बोझ अकेले ढोया है। एशिया से अमरीका की-सी दूरी पर स्थित आँखों से अँगुलियों तक आने में, कला का बोझ ढो ले जानेवाला कोई मजदूर भी तो तुम्हें नहीं मिला। फिर अपनी कला के गौरव को लोक लोक तक पहुँचाने के लिए एजेंट क्यों ढूँढ़ते फिरते हो? क्या तुम्हें अपने सपनों की धनिकता की दूकानदारी के मुनीम चाहिए? सपनों का मुनीम भी तो कोई सपना ही होगा भाई! सूरज की रोशनी के तो कहीं विज्ञापन नहीं छपते? अपनी धारा की पहचान तीर्थ-यात्रियों को करानेवाली कौन-सी 'एडवरटायजिंग एजेन्सी' गंगा ने खोल रखी है? यदि दर्शन की भक्ति से विह्वल पीढ़ी तुमसे पैदा न की जा सके कलाकार, तो सिक्कों की छनाछन के मुनीम तुम्हें कलाकार नहीं कहलवा ले जा सकते। अरे तुम गुस्से से कूँची छिड़क दो, तो सफेद कागज नीला आसमान

हो जाय, और छिड़के हुए छींटे उड़ते हुए सारसों की श्रेणी बन जायँ !

गाय पर एक गायक ने गीत गाया। गीत गानेवालों की जात ने उसे समझा, गायक के हाव-भाव को समझा; किन्तु गाँव का कोई ग्वाला वहाँ न पहुँचा। नन्हें बच्चों ने उधर ध्यान नहीं दिया। स्वयं गायें तो उस गान से इतनी बे-वास्ता रहीं, जितना जोर से प्रार्थना करनेवालों से कदाचित् भयभीत भगवान रहा करता है। उसके बाद, चित्रकार ने गाय के कद की एक गाय बना दी। बच्चों ने 'गाय' 'गाय' कहकर तालियाँ बजाईं, ग्रामीण अपनी-सी चीज समझकर देखने लगे, और अचम्भा तब हुआ, जब मेरी श्यामा उसके कानों के पीछे उसकी गर्दन चाटने ही जा रही थी कि उसकी सक्रिय सराहना का बदला लाठी से चुकाने मैं दौड़ा। कलाकार, तुम हो कि वस्तुओं को आकार देकर, अग-जग मोहित कर लेते हो।

विद्वानों की दुनिया में, सीमारहितता उन्हें अमरत्व प्रदान करती है। कला की दुनिया में, आकारों और निर्माणों की सीमा ही उन्हें अमरत्व देती है। एक ही पंखिनी तुम्हारे द्वारा बार-बार, सौ बार बनाये जाने पर, नये चार सौ प्रकारों से दीखने लगती है। हर वक्त, उसकी सूरत नई, उसकी सुन्दरता नई, उसका चाव नया, उसकी फड़क नई। रेखाएँ वही हैं, किन्तु तुम्हारी आकांक्षाओं की हिलोर से, या तुम्हारी सूझ की फूँक से, इधर से उधर हुईं, और नई आकृति, नई वस्तु, नया प्राण दे गईं।

सच्चे कलाकार का अपनी कला के प्रति कुछ ऐसा मोह होता है, मानो कला के सृजन में उसने कोई अपराध किया है, और उसे पारखियों के सामने रखकर, वह मानव-रुचि का अपमान नहीं करेगा; किन्तु इस नगण्यत्व में से कलाकार को ढूँढ़ती हुई

सहस्र-सहस्र मानव-गणना का जन्म होता है। मानो कला अस्तित्ववान् की रुचि की साँस है; जिसे पाये बिना, वह जीवन का रस नहीं पा सकता। कवि का स्वर कानों का सौदा है; किन्तु चित्रकार, मूर्तिकार और नर्तक का खेल, आँखों के आँगन से होकर आनंद के अनंत पुरुष की अगवानी है। कृष्ण के विरह में रोती हुई राधा, अशोकवाटिका में शोकमयी सीता, और कलकत्ते के दंगे में ब्रिटिश गोलियों से घायल हुई धोबिन, चित्रकार, विश्व-गौरव के बाजार में, ये तीनों विभूतियाँ, कला के सुकोमल कलश पर एक साथ, एक स्वर में, एक मूल्य पर दीख पड़ती हैं।

एक चित्रकार ने अपनी रचनाओं का संग्रह कर दिया। चित्रों में महल थे, झोपड़ियाँ थीं, झरने थे, नदियाँ थीं, इन्सान थे, दरिन्द थे, साँप थे, परिन्द थे। कोई कहेगा, क्या-क्या था? कोई पूछेगा, क्या नहीं था? उस 'अलबम' पर एक वाक्य लिखा था। क्या चित्रों की संख्या थी? क्या चित्रों की सूची थी? क्या रंगों की प्याली थी? क्या उसकी अपनी कूँची थी? नहीं, वहाँ यह कुछ नहीं था। उसकी पुस्तक का, यह पृष्ठ नहीं, मुखपृष्ठ था। उस पर लिखा था—"लाज लगती है, इसे कोई न देखे।" वह एक अमरीकन युवती चित्रकार थी, उसका नाम था—जॉर्जिया ओकीफ। और उसके चित्रों को लाख-लाख अमरीकनों ने देखा। कलाकार का प्रकट होना, अस्त होना है; और छुपना प्रकट होने से बदतर प्रकट होना।

× × × ×

तेरे चित्रों से आनेवाले जीवन को—जो केवल जीवन के संकटों को, 'वर्तमानत्व की शराब से बेहोश होकर और कल बीते और कल आनेवाले युगों का बोझ न सँभालनेवाली बुद्धि रखकर अपनाते हैं—वे कैसे पहचानें, कलाकार? बाजार में बिकते

हुए रंग और तेरी कला में प्राण पाते हुए रंग के बीच की लाँबी यात्रा को वे पहचानें, जो मन्दभागी साँसों की रेलगाड़ी में केवल समय का पाद-प्रहार पाकर गिर पड़े हैं और आती-जाती वायु-भरी लाश का बोझ ढोते चले जा रहे हैं? अजन्ता, अलोरा और ऐसी ही गुफाओं में; एकान्त चट्टानों पर शताब्दियों से बोलते हुए चित्रित रंगों और मुद्रित आकारों को देखते हुए भी, पश्चिम की रङ्ग-हीनता बोली—"भारत में चित्र की कला नहीं थी!" भारतीय कलाकार का अपराध यही था कि उसने पत्थर पर लकीरें खींचीं, और कबीर की इस वाणी के विश्वास को शताब्दियों पहले से दुहराया कि "यह संसार कागज की-सी पुड़िया, बूँद पड़े गल जाना है" इसलिए उसने अपनी कोमल कलम पत्थर पर चलाई और अमर सपनों को क्षणभंगुर कागजों पर नहीं लिखा।

पश्चिम अगर प्रश्नचिह्न बनकर ही आता, तो रंगों के अमर वैभव के ओ गायक, तुझे जीने के लिए जगह थी: किन्तु वह तो तेरे अस्तित्व की नकारात्मकता लेकर आ रहा था—'सब कुछ मेरे पास है, तेरे पास कुछ नहीं' लेकर! दुख तो यह था कि 'सब कुछ' और 'कुछ नहीं' का यह बँटवारा तेरे युग और तेरी पीढ़ी ने भी मान लिया! पश्चिम की 'स्वीकृति के सिर हिलने' के दाँव पर भारतीय संस्कृति और मानवता के सारे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष चढ़ा दिये गये। यदि पश्चिम के प्रचार में पूर्व एक बड़ा-सा 'शून्य' था, तो हम पूरब के अभागों के लिए पूर्व का अस्तित्व एक प्रश्नचिह्न से अधिक नहीं था।

एक धनिक को गर्मी का मौसम कुछ ऐसा सताता कि उसे अपने बदन पर पौष-माघ के दिनों में भी पंखों की जरूरत होती और फाल्गुन-चैत्र ही से रात में भी। ये 'बिजली गिरने भर' के

युगों की बात है, मानव की अँगुली से दबकर पंखे चलानेवाली बिजली के दिनों की बात नहीं।

हाँ तो, दिन-भर पंखेवाले मिलें, कुछ रात तक भी मिल जायँ; किन्तु सारी रात जिसे पंखा सौंपा जाय, उसकी ऊँघ में, पंखा पड़े धनिक के सिर!

विशेषज्ञ बैठे। 'प्रतिमाहीन' धन के लिए भी कितनी प्रतिमाएँ किराये पर नहीं मिल जातीं? 'रात भर पंखा चलना चाहिए'—समस्या यह थी।

एक प्राणी पकड़कर लाया गया। उसकी आदत, कि जो चीज पकड़े, छोड़े ही नहीं। और इतना चंचल कि वह स्थिर हो तो मौत के बाद; प्राण और स्थिरता जहाँ साथ-साथ न चलें।

'मिल गया!' उसे पकड़कर 'रईसजी' के पलँग के पास कुछ दूरी पर बैठा दिया। और, मदारी के डमरू पर कुलाँटें सीख जानेवाले उस प्राणधारी को कठघरे में बैठाकर, झूलते हुए पंखे की डोर को, उसे खींचना और ढीला करना सिखा दिया। पंखा चलने लगा। अब सुबह पंखा, शाम पंखा; दिन पंखा, रात पंखा।

डार्विन साहब की धरती पर मानव का पूर्व-पुरुष, मानव का पंखा चलाने आ गया!

आ गया सो आ गया। किन्तु हमने पश्चिम के द्वारा हमारे हाथों गहाई हुई धारणाओं की रस्सी को भी इसी तरह पकड़ लिया है। रस्सी खिची, पंखे हिले; आराम पश्चिम ने पाया, कठघरे में बन्द पूरब के हाथ रस्सी रही! जापान के उगते हुए सूर्य के प्रकाश ने कुछ जोर बाँधा था, सो अब वह भी कठघरे का बन्दर हो गया!

किन्तु, कलाकार, हम तो 'मित्रों की जय' दो शताब्दी पहले से बोलते चले आ रहे हैं। जानकारी, प्रतिभा और सौन्दर्य—जो

कुछ आत्म-मन्थन हमारे साहित्य और हमारी कला में था, उसे डूबते देखकर कभी-कभी हमारे शत्रु तक को आँसू आ गये। किन्तु हमारे शरीर से तो ऐसी केंचुली-सी उतर गई, मानो वे गुण हमारे जीवन के अंग ही न थे। इस समेट में बौद्ध-कला पिसी, जरथुस्त-कला पिसी, मुगल-कला पिसी; तिल-तिल कर कला के प्राण जा रहे थे और हम गा रहे थे—'दाता की जय हो'—हमारा विधाता, हमारी रोटियाँ जो रह गई थीं!

शोधकों ने शोध किये—मानो राजपूताना में प्यास लगी और सह्याद्रि पर पानी बरसा! शोध में, भारतीय चित्रकला के रसदान, अभिमान और विशालता के वितान का गुण-गान हुआ। आसमान से चीज आई, किन्तु मुहाफिजखाने की कांचनजंघा-चोटी पर चमकीला पत्थर बनकर बैठ गई! सब गलियों और कूचों में मजदूरी करते हुए, साँस भरनेवाले कलाकार, तेरे पास वह देवत्व कौन पहुँचाता? जिसके लिए, जागते जागते सपने ढूंढ़नेवाली, सपनों में शताब्दियों का जागरण ढूँढ़नेवाली, तेरी आँखों की पुतलियों में सौ-सौ-गुनी प्यास थी, और तेरे रंगों से भींगी कूचियों में हजार-हजार-गुनी तलाश थी? झोपड़ियों की कला महलों-जैसे खयालों और महलों-जैसे कीमती ग्रन्थों के नीचे कुचली जाकर कब से अपनी प्रतिमा भंग कर बैठी थी!

बाल की खाल निकालकर, फूलों की अँतड़ियों में मसल-मसलकर सुगंध ढूँढ़नेवाले पारखियों ने भारत की परीक्षा की। विज्ञाता पश्चिम जब तक हाँ न भरे तब तक भारत में चित्र? मूर्ति? काव्य? कला?—भला यह कौन माने?

आखिर पश्चिमी प्रवाह में हमने चश्मोंवाली आँखें पाईं; और लौटकर जो अपना घर देखा तो हम अवाक् रह गये! अटलांटिक अटलांटिक हो, किन्तु हिमालय भी हिमालय ही है।

अनेकान्त के जंगल में आज हम एकान्त की साधना की ओर लौटने को बाध्य हैं। पश्चिमी विशेषज्ञ हमारी कला को शून्य मानता था; वह अब हमारे रङ्गों में अंक ढूँढ़ने लगा। बाजार से नारी, नर्तकी और प्रकृति के अनेकानेक चित्रों से सजे जापानी परदे हम खरीदते थे; क्योंकि हमारी कला तो कुछ अपवादों को छोड़कर उन अधिकांश वैष्णव और शैव मूर्तियों में रह गई थी, जिसमें पूजा के पुराणपुरुष की प्रतिमा-हीनता ने छोटे बच्चों के खिलौने की तरह आँख की जगह आँख, नाक जगह की नाक, और हाथ-पाँव की जगह हाथ-पाँव बनाकर आराधना-वेदियों पर आदर से बैठा दिया है। अपने समस्त हाव-भाव तथा बेचैनियों और उल्लासों को लेकर, हमारे सांस्कृतिक ग्रन्थों और विश्वासों के सम्पूर्ण अतिमानव और मानव न हमारी कलम पर उतरना सीखा ही नहीं। बौद्ध-युग और जैन-युग की मूर्तियों के हत्यारे हम. 'हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेत् जैनमन्दिरम्' के जहर की खैरात पीढ़ियों को बाटते आनेवाले हम ! क्या मूर्तियों के प्रति घृणा बोनेवालों की कलम पर मूर्तियों की कला उतरकर आती ? हमने युग बदलते समय मूर्तियों की मूर्तियों से नकल की। नकल पत्थर रह गई, और असल को शताब्दियों की उपेक्षा ने खँड़हर बना डाला। हमारा सहस्राब्दियों का संचित मूल, अंधकार में गुम गया; और उसका ब्याज पश्चिमी धारणाओं के विलास में उड़ गया। प्रतिभा के द्वार के दारिद्रय का यह अस्तित्ववान् वैभव अपनी सूझ की पीठ पर लादे. भीख माँगते हुए भी 'महाराज' कहलाने में गौरव अनुभव करते हुए, हम चले आ रहे हैं। जीवन पर बस होता, तभी न कूँची में रस होता ? हमारा 'शून्य' को ब्रह्म मानना यों सार्थक होना था, सो होकर रहा !

कलाकार युगों के पन्ने उलटने से, अमर सत्य के पन्ने नहीं पलटा करते। ऋतु बदल जाने से कभी भी बरसात पुनः आना

नहीं भूली। पश्चिम तत्त्वज्ञ है; कला उसके जीवन के उतार-चढ़ाव का अर्थ है। पश्चिम कोटि-कोटि को एक 'कहने' पर 'लाचार' कर सकता है; किन्तु कोटि-कोटि में 'प्रेम' की 'एक झाँकी' देखना, यह उसके बूते का रोग नहीं दीखता। अतः उठ कलाकार, तू अपनी इकाई को चित्रित कर। उस वृक्ष पर, जहाँ कली फूल बना रही हो; उस जमीन पर, जहाँ वृक्ष उठ रहा हो और फूल झर रहे हों—जहाँ उम्मीदें हरी हों, और प्राप्ति फेंकी जा रही हो—जहाँ काँटे प्रहरी हों, और सुगंधायमान कोमलता चरणों पर उतार डालने की वस्तु हो! यह गर्जन, यह उभाड़, यह अँधेरा, यह नमी, यह बूँदें, यह प्रवाह, यह परिन्दे और वह शेर की दहाड़—रंग की कलम पर चढ़कर आने दे कलाकार, कि दुनिया जाने कि कलाकार का एकान्त कोटि-कोटि घमासानों की बस्ती है—उसका बिंदु कोटि-कोटि तरलताओं का उछाल है। उसकी चिनगारी की इकाई, कोटि-कोटि ज्वालामुखियों का उभाड़ है। पर्वतों की उँचाई और सागरों की गहराई की नाप, आकार का अर्थ देनेवाली किसी कलाकार की दो लकीरें हों प्यार मेरे!

———

# आधुनिक युग

[ श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, बी० ए० ]

एक दिन मैंने महेश से पूछा—"आपके इस वैज्ञानिक युग की विशेषता क्या है ?"

महेश ने कहा—"सत्य की परीक्षा। जो गत शताब्दी के विज्ञान का हाल जानते हैं, उन्हें ज्ञात है कि विश्व के सभी तत्त्वों का संग्रह करने के लिए योरप ने कितनी परीक्षाएँ की हैं और उनसे ज्ञान का क्षेत्र कितना विस्तृत हो गया है। पदार्थ-विज्ञान से मनोविज्ञान और मनोविज्ञान से मानस-विज्ञान और समाज-विज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई है। मनुष्य जाति का आदि और अन्त, उसकी सभ्यता का लक्ष्य तथा उसके सभी ज्ञानों का पारस्परिक सम्बन्ध आदि सभी विषयों की आलोचना कर मनुष्य थक-से गये हैं। संसार की बड़ी से बड़ी और छोटी से छोटी वस्तु का संग्रह कर मनुष्य ने अपने ज्ञान के क्षेत्र को खूब बड़ा कर लिया है। विज्ञान की इसी चेष्टा से साहित्य, दर्शन आदि शास्त्रों ने भी प्राचीन रीति को छोड़कर वैज्ञानिक रीति का ही अवलम्बन किया है। जगत्, आत्मा और ईश्वर के सम्बन्ध में जिन धारणाओं को भ्रम-शून्य मानकर दर्शन-शास्त्र ने अपने तत्त्वों को प्रतिष्ठित किया था, उनके भी मूल सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अब लोग संशयालु हो गये हैं। साहित्य में मनोविज्ञान ने अन्तर्जगत् का रहस्योद्घाटन किया है। भिन्न-भिन्न कालों में मनुष्यों का मन एक ही संस्कार को कितने ही नवीन रूपों में देखता है। प्रत्येक मन एक स्वतन्त्र जगत् ही है। इसलिए अब मूल सिद्धान्तों की विवेचना कर भिन्न-भिन्न तत्त्वों की रचना

करने की ओर दर्शन-शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं है। अब वैचित्र्य में ही एकता का अनुसन्धान करने में दर्शन अपनी कृतकृत्यता समझता है।"

मैंने कहा—"विज्ञान ने मनुष्यों को बहुत-सी भौतिक सुविधाएँ प्रदान की हैं। यातायात के साधनों में रेलवे, स्टीमर, हवाई-जहाज़ आदि के आविष्कारों से विस्मयजनक उन्नति हुई है। टेलीफोन, टेलीग्राफ़ और बेतार के तार द्वारा घर बैठे हजारों लाखों कोस की दूरी पर रहनेवाले मित्र के समाचार क्षण भर में ज्ञात हो जाते हैं। मुद्रण-कला के महत्त्वपूर्ण आविष्कार से ज्ञान सुलभ हो गया है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि आधुनिक विज्ञान ने ज्ञान-क्षेत्र को जिस प्रकार विस्तृत कर दिया है, उसी प्रकार उसने मनुष्यों के सामने साधन उपस्थित कर दिये हैं। अब मनुष्य उन साधनों का उपयोग कर अपने जीवन को सुखमय बना सकता है। इधर कुछ विज्ञानों का अन्तिम लक्ष्य भौतिक-समृद्धि ही प्रतीत होता है।"

महेश ने कहा—"नहीं। यह बात नहीं है। विज्ञान की उन्नति से भौतिक-समृद्धि की वृद्धि अवश्य हुई है; परन्तु उसी के लिए वैज्ञानिकों ने अपना जीवन नहीं बिताया है। आजकल विज्ञान के जो चमत्कार देखे जाते हैं, उनकी कल्पना तक उनके उद्भावकों ने नहीं की थी। सौ साल पहले प्रोफेसर आर्स्टेड ने देखा कि जब तार में बिजली की धारा दौड़ती है, तब उसके नीचे कम्पास की सुई अपने स्थान से हट जाती है। बस, इसी से टेलीग्राफ की उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार फैराडे ने यह सोचा कि इसका विपरीत परिणाम भी होना चाहिए। अर्थात् तार के पास चुम्बक ले जाने से उसमें बिजली की धारा पैदा होनी चाहिए। इसी तर्क पर चलकर उसने इसको प्रत्यक्ष कर दिखाया। इसका फल यह हुआ कि आज सैकड़ों बिजली के कारखाने चलते हैं। फैराडे, क्लार्क

मैक्सवेल आदि वैज्ञानिकों की यह धारणा हुई है कि विद्युत्स्फुलिंग से ऐसी लहर पैदा की जा सकती है, जो ईथर में भेजी जा सके। हार्टज ने ऐसी लहर पैदा करने का साधन ढूँढ़ निकाला। सर आलिवर लॉज ने उसे एक कमरे से दूसरे कमरे तक भेजा, और मार्कोनी ने संसार में बे तार का तार बिछा दिया। इसी प्रकार सर विलियम क्रुस ह्वेक्युम ट्यूब से रोजन ने एक्स-रे का आविष्कार किया। अब एक्स-रेज का उपयोग कितने ही कामों में किया जाता है। सच तो यह है कि जो आविष्कार विज्ञान के लिए बड़े महत्त्वपूर्ण होते हैं, उनका प्रभाव उसी समय दृग्गोचर नहीं हो जाता। अनेक वर्षों के बाद उनका महत्त्व प्रकट होता है। पर वैज्ञानिक क्षेत्र में सदैव ऐसे आविष्कार नहीं होते, जो मनुष्य-जीवन की गति ही बदल दें। ऐसे आविष्कार वर्षों के परिश्रम और साधन से होते हैं। जो छोटे-छोटे आविष्कार मनुष्य के दैनिक जीवन के हित के लिए किये जाते हैं, वे भी कम महत्त्व के नहीं होते। उनसे जाति की कर्मण्यता सूचित होती है। जो जाति उन्नतिशील है, वह सदैव अपने साधनों को विस्तृत करती जाती है। उससे उसकी कार्य-कारिणी क्षमता बढ़ती है। आज-कल वाणिज्य और व्यवसाय के क्षेत्र में जिन देशों ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया है, वे विज्ञान के ही द्वारा वैसा कर सके हैं। छोटे-छोटे सुलभ यन्त्र निकालकर उन्होंने अपनी शक्ति खूब बढ़ा ली है। हमारे देश का प्रधान व्यवसाय कृषि है। अधिकांश लोगों का जीवन उसी पर निर्भर है; परन्तु जहाँ अन्य देशों ने विज्ञान के द्वारा कृषि की यथेष्ट उन्नति की है, वहाँ हमारे देश में कृषि की दुर्दशा ही है। अमेरिका में मरुस्थल तक में यथेष्ट अन्न पैदा किया जाता है। हमारे देश की शस्य-श्यामला और सजला भूमि पाकर भी हमारे कृषक दरिद्र बने रहते हैं।"

मैंने कहा—"विज्ञान की उन्नति को कुछ विद्वान् सन्देह की दृष्टि से देखने लगे हैं। एक विद्वान् ने तो यहाँ तक कहा है कि विज्ञान ही दीर्घकाल तक मानव-जाति का सबसे प्रबल शत्रु रहेगा। कुछ लोगों की यह धारणा है कि विज्ञान ने मनुष्य के धार्मिक विश्वास शिथिल कर दिये हैं! कुछ लोग यह भी कहते हैं कि विज्ञान से हमारा सामाजिक जीवन अव्यवस्थित हो रहा है।"

महेश ने कहा—"कुछ भी हो, अब विज्ञान की गति रुकने की नहीं। गत पचास वर्षों में विज्ञान की आश्चर्यजनक उन्नति हुई है। इस काल में जितने वैज्ञानिक आविष्कार हुए हैं, उतने पहले कभी नहीं हुए। सच तो यह है कि हम प्रकृति के उस द्वार तक पहुँच गये हैं, जहाँ हम शीघ्र ही उन शक्तियों का पता पा लेंगे, जो अभी मनुष्यों के लिए कल्पनातीत हैं। जब वह समय आवेगा, तब संसार का कुछ दूसरा ही रूप हो जायगा। ज्ञान सत्य से भिन्न नहीं है और जो सत्य है उसी में मनुष्य का कल्याण है। जो संस्था सत्य का आलोक नहीं सह सकेगी, उसका नाश होने को ही है, चाहे वह धार्मिक हो अथवा सामाजिक। विज्ञान से सबसे बड़ा लाभ यही है कि मनुष्य अब सब की परीक्षा करने लगा है। छोटी से छोटी वस्तु भी परीक्षा का विषय है। परीक्षा ही सत्य की एक कसौटी है।

मैंने कहा—"अभी तक संसार पाश्चात्य सभ्यता पर मुग्ध था परन्तु अब विचारशील विद्वान् उसकी निस्सारता सिद्ध कर रहे हैं। अधिकांश विद्वानों की यही धारणा है कि पाश्चात्य सभ्यता के द्वारा मानव-समाज में अशांति का जो बीजारोपण किया गया है उसी का विषमय फल आज प्रत्यक्ष हो रहा है। भौतिक प्रभुता के लिए भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में जो पारस्परिक स्पर्द्धा

है, उसका परिणाम युद्ध है। समाज में जाति-गत विद्वेष का अभाव नहीं है। इसके सिवा व्यक्तिगत स्वाधीनता का सामंजस्य भी समाज के अधिकार के साथ नहीं स्थापित किया जा सका है। इसी से सर्वत्र अशांति है।"

रमेश ने कहा—"इसमें सन्देह नहीं कि योरप की वर्त्तमान दशा एक भविष्य विप्लव की सूचना दे रही है। बिना कोई बड़ा परिवर्त्तन हुए योरप में आदर्श का प्रादुर्भाव न होगा। देश के श्रेष्ठ आदर्शों की रक्षा करने का भार धर्म पर है। देश की समस्त शक्तियाँ उसी में केन्द्रीभूत होकर बृहत्-रूप से पूर्ण होने की चेष्टा करती हैं। पर योरप के इतिहास में अभी तक कोई ऐसा अवसर नहीं आया। मध्य युग में राष्ट्र और धर्म पृथक् हो गये। उनमें एक प्रकार से पारस्परिक स्पर्धा हो गई, और अन्त में राष्ट्र की विजय हुई। उसी ने धर्म को आयत्त कर लिया। इसी कारण योरप में राष्ट्रसूत्र से मनुष्य का ऐक्य है, धर्म-बन्धन से नहीं। ऐसी अवस्था में राष्ट्रीयता को ही धर्म का स्थान ग्रहण करना पड़ता है। ईसाई-धर्म इस राष्ट्रीयता के बिलकुल विरुद्ध है। परन्तु महात्मा ईसा ने मनुष्य-मात्र पर प्रेम और दया की जो शिक्षा दी है, वह लोगों के चित्त से बिलकुल विलुप्त नहीं हो गई है। योरप के मर्मस्थल पर ईसा की शिक्षा अंकित है। यदि यह बात न होती तो फिर कोई झगड़ा भी न रहता। यह बात सभी जानते हैं कि पार्थिव शक्ति और समृद्धि से एकता की स्थापना नहीं हो सकती, वह मनुष्य-मात्र की कल्याण-भावना से ही सम्भव है। यदि शक्ति से एकता स्थापित हो गई, तो वह क्षणिक ही रहेगी, स्थायी नहीं हो सकती। बात यह है कि जीवन के सम्बन्ध में किसी धारणा का आश्रय लेकर मानव-समाज अग्रसर होता है। यदि उस धारणा में कोई परिवर्त्तन हुआ, तो नवीन आदर्श के साथ प्रचलित व्यवस्था का मेल रखना कठिन हो जाता है। तब व्यवस्था को

तोड़ना ही पड़ता है। धारणा के परिवर्तन के साथ व्यवस्था का परिवर्तन अवश्य होगा। फ्रांस के राज्य-विप्लव में यही बात हुई। वहाँ एक ओर राजा, धर्म-गुरु और श्रीमान् थे, और दूसरी ओर जनता। इन दोनों के बीच व्यवधान पड़ जाने से जातीयता और एकता के लिए मनुष्य व्याकुल हो गये। फ्रांस में यही अनुभूति जाग्रत रखने के लिए प्राचीन व्यवस्था नष्ट कर प्रजातन्त्र की स्थापना की गई है।"

महेश ने कहा—"योरप व्यक्तिगत स्वाधीनता को उच्चपद देना चाहता है। किन्तु स्वाधीनता का चरम परिणाम श्रेय ही है। यदि योरप की प्रचलित संस्थाएँ स्वाधीनता के इस परिणाम के लिए बाधक-स्वरूप ही बनी रहें, तो क्रान्ति के द्वारा स्वाधीनता का पथ निर्मित हो जायगा, और ऐसी अवस्था आने पर किसी भी संस्था पर लोगों की ममता नहीं रहेगी।"

रमेश ने कहा—"हमें यह न समझना चाहिए कि ऐसी क्रान्ति भी बिना रक्त-पात के सम्पन्न न होगी। फ्रांस के राज-विप्लव का साम्यवाद तथा स्वाधीनतावाद धर्म के ऊपर प्रतिष्ठित नहीं था। उसने श्रेय की ओर ध्यान नहीं दिया। भौतिक प्रभुता पर ही उसकी शक्ति निर्भर थी। इसी से उसकी शक्ति भी क्षीण हो गई। अन्याय और अधर्म से श्रेय की सृष्टि नहीं हो सकती। यदि कभी लोगों का ऐसा विश्वास था, तो उनका वह विश्वास अब हट रहा है। इसीलिए अब बाह्य शासन की उपेक्षा की जा रही है। यदि मानव-जाति अन्तर्भावना से धर्म और कल्याण-वृत्ति में एक नहीं की गई तो अन्य किसी उपाय से यह सम्भव नहीं।"

महेश ने कहा—"पर यह धर्म है क्या? प्रत्येक धर्म के कितने ही बाह्य अनुष्ठान होते हैं। पर वे धर्म नहीं हैं और न धर्म के आवश्यक अंग ही। जिन नियमों से मनुष्यों का शाश्वत कल्याण हो सकता है; वही धर्म है। ईसाई धर्म के आविर्भाव के पहले भी

संसार में ऐसे नियमों का प्रचार था। मनुष्य का कल्याण उसी में बँधा नहीं है, वह विश्व के मंगल में निहित है, यह बात गौतम बुद्ध सदृश्य महात्माओं ने स्वीकार की है। पर समाज-व्यवस्था के लिए शासन-पद्धति को ही लोगों ने सबसे अधिक श्रेयस्कर समझ लिया है। नीच को नीचता से और आघात को प्रत्याघात से निरस्त करने का उपाय सर्वश्रेष्ठ माना गया है। ईसाई धर्म पर पाश्चात्य सभ्यता अवस्थित समझी जाती है। यदि अन्तर्गत धारणा के विरुद्ध योरप में युद्ध की विभीषिका दृग्गोचर हो, तो समझ लेना चाहिए कि विप्लव अवश्य होगा। पर जो एक के लिए कल्याणप्रद है और दूसरे के लिए नहीं, जो एक देश के लिए श्रेयस्कर है, और दूसरे देश के लिए नहीं, वह यथार्थ में कल्याणकर नहीं; अनिष्टकर है; उसमें विनाश का बीज छिपा है। विश्व के मंगल में ही प्रत्येक का मंगल है। यदि राष्ट्रीयता में मनुष्य के कल्याण की कल्पना रखी जाय, तो कहना पड़ेगा कि वह मङ्गल अमङ्गल है; क्योंकि उसने मनुष्य को विश्व से पृथक् कर दिया और उसी मात्रा में मनुष्य की स्वाधीनता को कम कर डाला है। वोट द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों का शासन स्वराज्य है, यह समझना भ्रम-मात्र है। स्वराज्य शब्द श्रुति-सुखद अवश्य है, पर उसके भीतर भी दासत्व छिपा है। सच तो यह है कि सभी लोग शासन नहीं करते। फिर शासित और शासन का स्वार्थ भी एक नहीं है। समाज में इस श्रेणी-भेद से अन्याय होगा ही। आजकल योरप में सबसे अधिक विवादास्पद विषय यही है। एक ओर जमींदार और व्यवसायी हैं, तो दूसरी ओर किसान और मजदूर। इसी लिए कुछ लोग धन को समाज के अधीन करने की चेष्टा कर रहे हैं, जिससे भेद-भाव न रहे।"

मैंने कहा—"मेरी समझ में तो पार्थिव ऐश्वर्य की वृद्धि में

ही विनाश का बीज है। सभ्यता है क्या ? क्या वह श्रेय नहीं है ? क्या वह आनन्द, धर्म, स्वास्थ्य नहीं है ? क्या सामग्री-मात्र है ? क्या वह थिएटर, रेल, मोटर आदि भोग-विलास का आयोजन मात्र है ? इसी भोग-विलासमय सभ्यता का पोषण करने के लिए जो नरमेध हो रहा है उसका भी हिसाब क्या कोई रखता है ? कहा जाता है, मिसर में पिरामिड बनाने के लिए हजारों आदमियों के प्राणों की बलि देनी पड़ी थी, इसे हम असभ्यता कहा करते हैं। परन्तु वर्त्तमान युग में आकाश को मलिन कर, सभ्यता के नाम पर, पाप और दारिद्र्य की भित्ति पर, श्रीमानों का जो आकाश चूमता हुआ महल बनता है, वह क्या बर्बरता नहीं है ? वर्त्तमान सभ्यता का रूप सुरक्षित करने के लिए कितने दरिद्रों का बलिदान होता है, इसकी भी गणना क्या कभी की जाती है ? एक ओर मोटर, रेल, म्यूजियम, पार्क और थिएटर हैं, तो दूसरी ओर दारिद्र्य के भीषण दृश्य। हम किस ओर देखें ?"

महेश ने कहा—"संसार में मनुष्यों को सबसे पहले आत्म-रक्षा की चिंता करनी पड़ती है। आत्म-रक्षा के ही भाव से प्रेरित होकर उसे अपनी उन्नति करनी होती है। यदि वह अपनी उन्नति न करे तो अपनी रक्षा भी नहीं कर सकेगा। काल का प्रवाह मनुष्य को उन्नति के पथ पर अग्रसर करता है। यदि मनुष्य काल के साथ नहीं जा सका तो वह नष्ट भी हो जायगा। अतएव यह तो निश्चित ही है कि सभी लोगों को अपनी स्थिति और उन्नति के लिए प्रयास करना पड़ता है। इसी प्रयास से मनुष्यों में पारस्परिक संघर्षण होता है। कुछ लोग दूसरों की उन्नति को अपनी उन्नति के लिए विघ्न-स्वरूप समझकर उन्हें अवनत करने की चेष्टा करते हैं। तभी हिंसा का भाव उनमें उत्पन्न होता है। जीवन अब संग्राम समझा जाता है। इस युद्ध-भूमि में वही कृत-

कृत्य समझा जाता है, जो दूसरों को नष्ट कर, उनके नाश की भित्ति पर, अपनी उन्नति का निर्माण करता है।

रमेश ने कहा—"परन्तु सच पूछो तो मनुष्य प्रेम ही के बल से आत्म-रक्षा कर सकता है और उसी से उसकी उन्नति भी हो सकती है। पारस्परिक संघर्षण नहीं, किन्तु पारस्परिक सहायता से ही मानव-समाज की स्थिति है। समाज की प्रारम्भिक अवस्था में केवल आत्मीयजनों के प्रति मनुष्य का खिंचाव होता है। क्रमशः उसका यह खिंचाव बढ़ता जाता है। अंत में वह एक बृहत् समाज में व्याप्त हो जाता है। पहले जो भाव एक परिवार में सीमा-बद्ध था वह अब देश-व्यापी हो गया। पहले देश की सीमा एक क्षुद्र युद्ध-भूमि खण्ड में परिमित थी, अब देश का क्षेत्र अधिक व्यापक हो गया है। सौ वर्ष पहले जो परस्पर प्रतिद्वन्द्वी थे, वे ही अब एक ही पथ पर चल रहे हैं। जो लोग पहले देश के शत्रु समझे जाते थे, वे ही अब एक देश-वासी हो गये हैं। अब प्रश्न यह है कि मनुष्य का प्रेम एक देश में ही चिर-काल तक आबद्ध रहेगा? देश कितना ही बड़ा क्यों न हो, वह सीमा-बद्ध ही है। परन्तु मनुष्य का प्रेम का भाव देश की सीमा का उल्लंघन कर मनुष्य-मात्र के प्रति आकृष्ट हो रहा है।"

मैंने कहा—"यह कहना बहुत सरल है कि हम सभी मनुष्य हैं, यह समस्त वसुधा ही एक कुटुम्ब है; परन्तु इस भाव को हृदय में जाग्रत कर उसको कार्यरूप में परिणत करना कठिन है। इसका कारण यह है कि अभी तक मनुष्य हिंसा के भाव को दूर नहीं कर सका। वर्त्तमान युग में मनुष्य-मात्र की स्वाधीनता और समता की शिक्षा सभी दे रहे हैं। सभी देश और राष्ट्र न्याय की घोषणा कर मनुष्य-जाति के पारस्परिक विद्वेष को दूर करना चाहते हैं। तो भी वर्त्तमान काल में जो अशान्ति

फैली हुई है, उसका कारण विषमता, पराधीनता और जाति-गत विद्वेष ही है। स्वार्थ-साधन के लिए दूसरों को पद-दलित करने में ही अनेक मनुष्य प्रेम का स्वप्न देख रहे हैं। राजनीतिक क्षेत्र में अभी तक व्यक्ति, राष्ट्र और समाज की प्रतिद्वंद्विता भी विद्यमान है।"

महेश ने कहा—"यह सर्वमान्य है कि संसार में जो कुछ सुन्दर और श्रेयस्कर दिखाई दे रहा है, वह सब मनुष्य की आत्मा से ही प्रकट हुआ है। मनुष्य ने ही सभ्यता के प्रत्येक अंग—शासक और शासित, मन्दिर और मसजिद, शिल्प और कला, पूँजी और मशीन, सभा और संगठन आदि का निर्माण किया है। मनुष्यों ने ही भाषाएँ बनाई हैं। मनुष्यों ने ही पुराणों की रचना की है, मनुष्यों ने ही धर्म चलाये हैं, मनुष्यों ने ही स्वर्गऔर नरक की सृष्टि की है। कुरान, बाइबिल और गीता भी उन्हीं की उपज है—ब्रह्मा, विष्णु से नहीं है। मनुष्य के लिए सबसे अधिक गौरव की बात यह है कि उसने अपने आप को जंगली पशुओं की श्रेणी से उठाकर मनुष्य बना लिया है। सैकड़ों वर्षों के प्रयास के बाद उसने धीरे-धीरे प्रकृति-विजय पाई, संसार में अपने अनुकूल आसन ग्रहण किया, और वह ईश्वर की सृष्टि का उत्तराधिकारी बन गया। उसने इतने से ही बस नहीं की, किन्तु साहित्य, विज्ञान, शिल्प और कला में भी आश्चर्य-जनक उन्नति की। उन्नति का यह मार्ग भविष्य में अवरुद्ध नहीं हो सकता। जाति का संहार हो या सभ्यता का विनाश हो पर नव जाति और नव सभ्यता का निर्माण होगा और मनुष्य जाति का उत्तरोत्तर विकास होता जायगा। आवश्यक है सतत परीक्षा की—तस्मात् प्रवर्तय सखे सततं परीक्षाम्।"

———

# हिन्दी-उर्दू का प्रश्न ❀

[ श्री राहुल सांकृत्यायन ]

राष्ट्रीय जागृति के साथ-साथ हिन्दी साहित्य का आगे बढ़ना स्वाभाविक ही है; क्योंकि ऐसी जागृति जीवन के हर एक अंग में व्यापक होती है। हिन्दी अब ३० वर्ष पुरानी अवस्था में नहीं है, जब कि किसी भी योग्य, अयोग्य एम० ए०; बी० ए० के लेख को हिन्दी के सम्भ्रान्त समाचार-पत्र सादर स्वीकार किया करते थे; हमारे साहित्य के अग्रदूत, निर्माता, सम्पादक लोग ऐसे लेखों को स्वयं शुद्ध करने की भारी जहमत लेते हुए भी उन लेखकों को उत्साहित करते थे। क्योंकि उस समय इतने लेखक कहाँ थे? आज हिन्दी का साहित्य अपने हर क्षेत्र—गद्य, पद्य, नाटक, काव्य, कहानी, उपन्यास, यात्रा और इतिहास में बहुत तेजी से उन्नति कर रहा है। हम लोगों की, और बहुत से दूसरे प्रान्तों के लोगों की भी वही पुरानी धारणा चली आती है, जो कि आरंभिक हिंदी के साहित्य में अधिकांश में बँगला और दूसरी भाषाओं के अनुवादों द्वारा उत्पन्न हुई थी; जिस वक्त कि हमारे यहां 'प्रेमचन्द' और 'सुदर्शन', 'पन्त' और 'निराला', 'प्रसाद' और 'दिनकर' 'आरसी' और 'महादेवी', लक्ष्मीनारायण' और 'भट्ट' 'जयचन्द' और 'रघुवीर' नहीं पैदा हुए थे। सरहाप से सूरदास, बिहारी से पदमाकर तक के पुराने काव्य साहित्य की जो अद्वितीय निधि हम हिन्दियों को प्राप्त है, इसके लिए सुरपुर के बृहस्पति और

---

❀ ( बिहार प्रान्तीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के सभापति के भाषण से )।

बलिपुर के शुक्राचार्य को भी रश्क होगा; भूतल के दूसरे भाषा भाषियों के बारे में तो कहना ही क्या? लेकिन हमारे नये साहित्य की जिस तेजी के साथ प्रगति हो रही है, उसका ज्ञान हमें खुद भली प्रकार से नहीं है। एक मुसाफिर को नाव की गति भी तो अकसर भूल जाती है।

## हिन्दी-उर्दू

हिन्दी उर्दू का विवाद बहुत दिनों से चला आ रहा है। द्वितीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति पं० गोविन्दनारायण मिश्र ने सन् १६११ में कहा था। "इधर कुछ दिनों से हिन्दी और उर्दू का अन्तर मिटाने की चेष्टा कुछ लोग कर रहे हैं। वे समझते हैं कि पार्थक्य केवल लिपि-मात्र का है, भाषा का नहीं। इससे उर्दू हिन्दी की ऐसी विचित्र खिचड़ी पकाई जा रही है कि जिससे भाषा की सुन्दरता नष्ट होने के साथ ही उसकी जड़ भी काटी जाती है।"

"मदीना"(बिजनौर) जैसे राष्ट्रीयता का दावा करनेवाले उर्दू अखबार भी कह रहे हैं—हिन्दुओं का मुतास्सिब और तंगे-नजर तब्क़ऽ इस मस्अले के बारे में जो ख़्याल रखता है और अम्लन् उसे जिस तरह हल करना चाहता है; वह यक़ीनन उर्दू के लिए ख़तरनाक है, और इसकी बिना पर मुसलमानों के दिलों में ख़ुद काँग्रेस की तरफ से बदगुमानियाँ पैदा हो रही हैं, और उन्हें यह ख़्याल पैदा होने लगता है, कि उर्दू को आसान बनाने की तहरीक, हिन्दी की तर्वीज (प्रचार) आम का ज़ीना समझकर तो नहीं अख़्तियार की गई है। मस्लन् हूकूमत यू० पी० ही की तरफ़ से जो सरकारी बयानात और ऐलानात् वग़ैरह फ़ारसी और हिन्दी रस्मुलख़तों में अलग अलग शाया हो रहे हैं, उनकी ज़बान भी एक दूसरे से जुदागाना है; हालांकि कांग्रेस के फैसले

के मुताबिक़ ज़बान एक होनी चाहिए थी और सिर्फ रस्मुलख़तों का फर्क होना चाहिए था (उर्दू जुलाई १९३८)।

यह तो ऐसे अख़बार का कहना है, जिससे हम राष्ट्रीयता के नाते कुछ और फराख़दिली की उम्मीद रखते थे। समझ में नहीं आता कि उर्दू के लिए वह हज़रत भले ही मज़हब का सवाल पैदा करें लेकिन हिन्दी के बारे में क्यों वह हिन्दूपन का आक्षेप करते हैं? हिन्दी के सम्बन्ध में हिन्दी भाषा-भाषियों की स्थिति वही है जो ईरानियों की अपनी मातृभाषा फ़ारसी के प्रति और तुर्कों की तुर्की भाषा के प्रति। उन देशों में तो कोई सवाल नहीं उठाता कि हजार वर्ष से हज़म हो गये हज़ारों अरबी के शब्द आज फ़ारसी और तुर्की भाषाओं से क्यों कान पकड़कर निकाले जा रहे हैं; ऐसा करना इस्लाम के खिलाफ है अगर ईरान और तुर्की में जहाँ कि सारी जनता मुसलमान है—लोग अपनी भाषा में अरबी के एक भी शब्द को रखने के लिए तैयार नहीं मालूम होते, तो हमीं हिन्दियों के ऊपर जोर क्यों दिया जाता है कि यदि उसमें पचास और पचहत्तर फीसदी अरबी के लफ्ज नहीं रखोगे, तो इसका सरासर मतलब होगा, इस्लाम के खिलाफ ज़िहाद। मज़हब को आध्यात्मिक क्षेत्र में खुला मौक़ा भले ही मिले लेकिन इसका यह मतलब हर्गिज़ नहीं होना चाहिए कि वह हमारे साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक सभी क्षेत्रों में टाँग अड़ाये।

हमारे इन भाइयों को ख्याल रखना चाहिए, कि दुनिया के १/६ हिस्से से मजहब का प्रभुत्व हमेशा के लिए बिदा हो चुका है; और बाकी दुनिया में भी उसका भविष्य बहुत उज्ज्वल नहीं है। जिन देशों में गुञ्जायश है भी, वहाँ भी इसका क्षेत्र बहुत संकुचित रह गया है। वह राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में नाजायज़ दख़ल देने का अधिकार नहीं रखता। यह बात

जापान और जर्मनी, इँगलैण्ड और अमेरिका के बारे ही में नहीं, बल्कि तुर्की और ईरान जैसे सबसे जबरदस्त इस्लामी राष्ट्रों पर भी उसी तरह लागू है। उर्दू का सवाल उसके हामियों द्वारा इस्लाम का सवाल बनाया जा रहा है; और यह बड़े अफसोस की बात है। खुद अग्रणी मुस्लिम राष्ट्र, जिस भाषा और लिपि-सम्बन्धी सुधार में अपनी सारी शक्ति लगा रहे हैं, उसी सिद्धान्त को जब हम हिन्दी व्यवहार में लाना चाहते हैं, तो एक तूफान-बदतमीजी वर्षा कर दिया जाता है। हिन्दी भाषा में न हिन्दुओं का सवाल है और न इसमें हिंदू सभा तथा उसके आधुनिक पैग़म्बरों की गोहार है। यह तो राष्ट्रीयता की मौज का तक़ाज़ा है। भूला हुआ राष्ट्र अपने को समझने में सफल हुआ है; और वह चाहता है कि हम राजनीति की तरह साहित्य और भाषा में भी स्वतन्त्र हों। हमारे हिन्दू भाई बाज़ वक्त़ हिन्दी का दावा इस तरह पेश करते हैं, जिससे मालूम होता है कि हिन्दी उन्हीं को वरासत में मिली है। नहीं जनाब। आप भारी ग़लती कर रहे हैं। यह सोलह करोड़ हिन्दी भाषा-भाषियों का सवाल है, जिसमें सभी हिन्दू मजहब के नहीं हैं। बौद्ध आपके खान-पान को नहीं मानते, आपके वर्णाश्रम के ढकोसलों को नहीं मानते, आपकी जात-पांत को नहीं मानते, आपके ईश्वर और अवतारों को नहीं मानते, आपके वेद-पुराणों को नहीं मानते, लेकिन वह भी यह हरगिज़ पसन्द नहीं कर सकते कि हिन्दू अपने को हिन्दी का ठीकेदार कहें। हिन्दी ईसाई भी जात-पांत, खान-पान और धर्म-कर्म में हिन्दुओं से भारी मत-भेद रखते हैं, लेकिन हिन्दी उनकी भी भाषा है। वह नहीं गवारा करेंगे कि हिन्दू हिन्दी को अपनी निजी सम्पत्ति बनावें। शायद आप कहें कि बौद्धों, ईसाइयों तथा दूसरे इस प्रकार के सम्प्रदायवालों की संख्या तो अत्यन्त अल्प है, इसलिए हिंदुओं

ही के ऊपर हिन्दी के संरक्षण का सारा भार पड़ जाता है। लेकिन यह ख़्याल ग़लत है। आप हिंदू के नाते वह संरक्षण नहीं कर रहे हैं; बल्कि हिन्दी-भाषा-भाषी—के सम्बन्ध से वैसा कर रहे हैं। मज़हब, जातीयता का चिह्न नहीं है. वह तो बदलता रहता है। कभी इस देश में साठ साठ, सत्तर सत्तर फीसदी तक लोग बौद्ध धर्म को मानते थे, उसकी शिक्षा के लिए उन्होंने अपने देश ही में नालन्दा और विक्रम-शिला जैसे महान् विद्या-केन्द्र तथा गाँव-गाँव में विहार एवं कला-कौशल के प्रचारालय ही स्थापित नहीं किये; बल्कि उसके लिए हिमालय ही के उत्तुङ्ग शिखरों को उन्होंने राई समझा। गोबी की विकराल मरु-भूमि उनके लिए अकिञ्चन थी। महीनों की सामुद्रिक यात्रायें उस समय के लकड़ी के डोंगों में उनके दिल में भय का संचार नहीं कर सकती थीं। लेकिन आज आप देखते हैं, कि इस देश में उस धर्म के माननेवाले लुप्त हो चुके हैं। दुनिया के और मुल्कों में जिस तरह मज़हब अंतिम साँस ले रहा है और जिस प्रकार इतना बड़ा मज़हब जिसका प्रभाव अब भी दुनिया के एक तिहाई मनुष्यों पर है—हमारे यहाँ से लुप्त हो गया, इसे देखकर क्या सबूत है कि उसी तरह आज के धर्म खतम नहीं हो जायँगे? मज़हब अब कुछ समय की चीज है, लेकिन हिन्दी कुछ समय की चीज नहीं है। आज से सौ वर्ष बाद सन् २०३८ ई० में आप विश्वास रखिये आपकी सन्तानों में मज़हब का प्रभाव उतना नहीं रह जायगा। उस वक्त शायद न हिन्दू धर्म रहेगा, न इस्लाम, न ईसाइयत। आज के रामसिंह और रहीम खाँ की संतानें एक दूसरे के ससुर-दामाद बनेंगी—नाम के लिए नहीं वास्तविक रूप में। उस वक्त मुसलमान बना के हिन्दू लड़की और हिन्दू बना के मुसलमान लड़की ब्याह करने की प्रथा स्वप्न सी हो गई रहेगी। तब हमारी उन संतानों को यह

समझना भी मुश्किल मालूम होगा कि कुछ ही पीढ़ियों पहले हमारे पूर्वज अपनी भाषा हिन्दी के लिए ऐसी संकुचित दृष्टि रखते थे। सारांश यह कि भाषा के सवाल में मजहब को किसी तरह का दखल देने का अधिकार नहीं। हिन्दू हो चाहे मुसलमान जो भी मजहबी दृष्टिकोण से इस पर विचार करता है; वह हमारी अगली पीढ़ियों के उपहास का भाजन ही नहीं बनेगा; बल्कि आज भी यदि वह अपने इस दकियानूसी ख्याल को मुल्क के बाहर तुर्की और ईरान अथवा जर्मनी और जापान में पेश करें; तो लोग आश्चर्य से सुनेंगे ही नहीं, बल्कि उनके ऊपर तरस भी खायेंगे। पिछली बार मुझे एक हमवतन मुसलमान के भाई के साथ ईरान में एक जगह रहने का मौका मिला था। वह कई साल से ईरान में व्यापार करते हैं, और लाहौर के एक उर्दू दैनिक समाचार पत्र को मंगाते हैं। वह देखते थे कि कैसे मदेर (संपादक), वल्दिया (म्युनिसिपैल्टी), इफ्तेताह (उद्घाटन), तारीख (देर) तर्वीज (प्रचार), तजदीद (नया करना) इत्यादि हजारों अपरिचित और अनावश्यक अरबी के शब्द धड़ल्ले के साथ वहाँ इस्तेमाल हो रहे हैं; और वैसा करते समय यह ख्याल नहीं आता, कि हमारे देश की भाषा में हजारों ऐसे शब्द हैं, जिनको वह अपनी इस हरकत से देश निकाला दे रहे हैं। हमारे दोस्त ईरानी समाचार-पत्रों से उन हजारों शब्दों की कटिङ्ग जमा करके रखते थे, जिन्हें फारसी-कोष से निकाल देने की खबर समय-समय पर अख़बारों में सरकार द्वारा प्रकाशित की जाती थी। वहाँ इन विदेशी शब्दों का बायकाट सिर्फ़ सुझाव और समझाव तक ही सीमित नहीं हो रहा है; बल्कि सरकारी कचहरियों, डाकख़ानों, तारघरों में आपका आवेदन-पत्र स्वीकृत नहीं होगा, यदि आप परित्यक्त शब्दों (लोगत्हाय नस्खशुदा) को इस्तेमाल करते हैं।

तेहरान में हमारे दोस्त अपने हम्मज़हब भारतीयों द्वारा क़ौमी एहसास ( जातीय चेतना ) के ख़िलाफ़ की जानेवाली इस हरकत को देखकर झुँझला उठते थे। कितनी ही बार वह कहते थे—"ताज्जुब है इन लोगों की ज़ेहन पर, इन्हें इस तरह की ग़ैर हिंदी ज़बान लिखने में शरम नहीं आती।" आजकल के अँगरेज राजनीतिज्ञों की तरह हमारे यह उर्दू भक्त भाई भी अपने सामने दो क़दम के आगे की चीज़ देखने की न क़ाबिलियत रखते हैं, न उसे पैदा करने की इच्छा रखते हैं। वह समझते हैं कि मस्जिद और मन्दिर, ताजिया और रामलीला क़यामत तक बने रहेंगे; और हमारी तरह हमारी संतानें भी इन मज़हबी बकवासों को सुनने के लिए तैयार रहेंगी।

हिन्दी और उर्दू का प्रश्न बराबरी के हक़ का प्रश्न नहीं है; क्योंकि उनमें एक है स्वदेशी और दूसरी है विदेशी चीज़। हाँ, विदेशी चीज़; क्योंकि जब तक आधे अरबी के शब्द घुसेड़े न जायँ तब तक तो उसे उर्दू कहा ही नहीं जाता। उनमें तो हिन्दीपन और ग़ैर इस्लामीपन बना रहता है। हिन्दी जिस तरह संस्कृत के आवश्यक शब्दों को स्वीकार करने का अधिकार रखती है, उर्दू को अरबी लफ़्ज़ों के स्वीकार करने का वैसा अधिकार हर्गिज़ नहीं; यदि वह अपने तई हिन्दुस्तानी ज़बान होने का दावा करती है। संस्कृत हिन्दुस्तान की पुरानी ज़बान थी, जिसकी बरासत हिन्दी को जन्म से मिला है। भारत में अरबी संस्कृति का स्थान लेने का दावा नहीं कर सकती। हिन्दी में अरबी से उधार लिया हर एक शब्द हमारे लिये विदेशी है विदेशी शब्द भी लिये जाते हैं; लेकिन उतने ही जितने कि हम अपने लिए उचित समझते हैं। हिन्दुस्तान के कितने ही व्यक्तियों ने इस्लाम क़बूल किया है। इस्लाम का पुराना धार्मिक साहित्य अधिकतर अरबी में है; और धार्मिक साहित्य में कुछ अपने

पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता होती है। ऐसे पारिभाषिक शब्द इस्लाम-सम्बन्धी हिन्दी-साहित्य में भी आने जरूरी हैं; यद्यपि वह ज़रूरत हर हालत में अनिवार्य नहीं। किन्तु इसके लिए अल्ला, कुरान, ईद, हज्ज मस्जिद जैसे शब्दों को रखने में कोई बाधा भी नहीं देता। लेकिन इसका क्या अर्थ है कि धार्मिक साहित्य ही में नहीं, बल्कि राजनीति, समाज, विज्ञान-सम्बन्धी परिभाषाओं में भी आप हजारों अरबी शब्दों के डालने का आग्रह करें ? हाँ, यदि धर्म की तरह राजनीति, समाज और विज्ञान-सम्बन्धी कोई सिद्धान्त भी अरब से आया है, तो उस सिद्धान्त के साथ ही कुछ अरबी शब्द की खपत हम स्वीकार करते हैं। जैसे कि इंजन, ड्राइवर, मशीन, रेल, ट्राम, मोटर, सिनेमा, रेडियो आदि शब्दों को हमने योरोपीय भाषाओं से लिया है। विज्ञान मनुष्य-जाति के लिए अनिवार्यतया आवश्यक चीज़ है, लेकिन वह भी इस बात का आग्रह नहीं कर सकता, कि हम अपनी भाषा में पचास-पचास फ़ीसदी योरोपीय शब्द रखें। फिर मज़हब क्यों ऐसी ज़िद करता है ? जिस तरह ईरान में नई और पुरानी पारसी ( पहलवी ) के हजारों शब्दों द्वारा अपना स्थान छिनते देख, अरबी यह शिकायत करने का अधिकार नहीं रखती कि क्यों हमें हटाकर इतने पुराने शब्द लिये जा रहे हैं; उसी तरह संस्कृत से, पाली-प्राकृत से हज़ारों शब्द हिन्दी में लिये जायँ, तो अरबी को उसमें बोलने का कोई हक़ नहीं है। यह तो दादी-माँ-बेटियों का अपना घरू प्रबन्ध है। इसमें यह विदेशिन कौन होती है ? विदेशिन को अगर इज्ज़त के साथ रहना है, तो उसे अपने को कुछ दिनों का मेहमान समझना होगा। यदि वह मेहमान का दर्जा छोड़कर स्थायित्व का ख्याल अपने मन में लावे, तो उसकी यह अनधिकार-चेष्टा

होगी। उर्दू-भक्त भाई मेरी इन बातों से बुरा न मानें, हिन्दुस्तान में यह बात उन्हें अप्रीतिकर लग सकती है, और कोई-कोई इसे अव्यवहार्य, बेमतलब तथा हानिकारक भी सोच सकते हैं; लेकिन दूसरे मुल्कों में सभी लोग इसे राष्ट्रीयता के पाठ का क-ख समझते हैं।

उर्दू-हिन्दी की एकता होनी चाहिए, यह सिर्फ़ कहने में आसान है। सर तेज बहादुर सप्रू उर्दू के प्रति बेवफ़ाई देखकर बिना आँसू बहाये नहीं रहते—

"It is distressing to come across Hindu graduates and under-graduates in some parts of the U. P., who think that their duty towards Hindi necessarily means and implies that they should exclude from their thought the language and literature in which their ancestors only a generation or two ago excelled."

(Foreword to History of Urdu Literature by Ram Babu Saksena)

"युक्तप्रान्त के कुछ भागों में ऐसे हिन्दू ग्रेजुएटों और अन्डर ग्रेजुएटों को देखकर मुझे बहुत अफ़सोस आता है, जो कि ख्याल करते हैं; कि हिन्दी के प्रति अपने कर्तव्य का आवश्यक अर्थ यह है, कि वह अपने दिल से उस भाषा और साहित्य ( उर्दू ) का ख्याल भुला दें, जिस पर कि उनके पूर्वज एक ही दो पीढ़ी पहले ज़बरदस्त अधिकार रखते थे।"

सर तेज को इसके लिए अफसोस हो सकता है; लेकिन हमको तो उनके इस वचन पर बड़ा आश्चर्य होता है। हमको ही क्या, किसी आज-कल के ईरानी या तुर्क को भी होगा, यदि आप उनके सामने सर तेज के सवाल को रखें—

"ईरान के सारे भागों में ऐसे ईरानी ग्रेजुएटों और अन्डर-ग्रेजुएटों को देखकर बहुत अफसोस आता है, जो कि ख्याल करते हैं, कि ईरानी-भाषा के प्रति अपने कर्तव्य का आवश्यक अर्थ यह है, कि वह अपने दिल से उस भाषा (अर्बीभरी-फ़ारसी) का ख्याल भुला दें, जिसमें कि उनके पूर्वज एक ही पीढ़ी पहले जबर्दस्त अधिकार रखते थे।"

ईरानी नौजवानों की तरह, हिन्दी नौजवानों की भी यह प्रतिक्रिया नहीं है, बल्कि राष्ट्रीय भावों का परिपाक है; आत्म-विस्मृति से होश में आना है। और वह होश में आना दो एक पीढ़ी पहले आत्मविस्मृत पूर्वजों की चेष्टाओं को कितना हास्यास्पद बना देता है; इसे भी सर तेजबहादुर सप्रू के शब्दों द्वारा मुझे रखने की आज्ञा दीजिए।

"युक्त प्रान्त के कुछ भागों में ऐसे ग्रेजुएटों और अन्डर-ग्रेजुएटों को देखकर मुझे अफ़सोस आता है; जो कि ख्याल करते हैं, कि राष्ट्रीयता के प्रति अपने कर्तव्य का आवश्यक अर्थ यह है, कि वह अपने दिल से उन रायबहादुरी व खानबहादुरी नवाब-राजा-महाराजा सर-नाइट हूडियों की चाह, साहबों की चापलूसियों और सलामियों का ख्याल भुला दें, जिनमें कि उनके पूर्वज एक ही दो पीढ़ी पहले जबर्दस्त अधिकार रखते थे।"

मुझे भी सर तेज के अफसोस के साथ सम्वेदना है, लेकिन अफसोस कि समय की सुई को पीछे की ओर नहीं घुमाया जा सकता।

जिस भाषा में हमारे स्वदेशी शब्द, स्वदेशी छन्द, स्वदेशी उपमा हो, वही तो हिन्दी है। इसके विरुद्ध जो अपने देश से ही बाहर की नहीं, बल्कि जिसका पैतृक सम्बन्ध भी हमारी

मातृभाषा से कोई नहीं है; उस अरबी भाषा से शब्द, छन्द और उपमा थोड़ी तादाद में नहीं, बल्कि सोलहों आना लेना चाहती है; वह है उर्दू भाषा। आपके सामने उसकी एक छोटी सी बानगी रखता हूँ—

"गुज़श्ता सफ़हात से मालूम हुआ होगा, कि ज़फ़र की तबीयत पर ख़ज़न् व मलाल किस क़दर ग़ालिब है। तल्ख़ियों, नाकामियों और नामुरादियों के हजूम में उनकी ज़िन्दगी महज़ दाग़ेतमन्ना और सरापा आरज़ू बनकर रह गई। ज़ाहिर है, कि ऐसे हसरत-ज़दे और अर्मान-सोख्ता इन्सान के दिल व दिमाग़, पन्द व नसीहत के लिये किस क़दर मौज़ूँ होंगे"। ( मारिफ, आज़मगढ़ १९३८, पृष्ठ १८१)

दूसरी बानगी लाहौर के 'हमायूँ' (अक्टूबर १९३८, पृष्ठ ७३७) से—

"कुछ दिनों से हिन्दुस्तान में हिन्दुस्तानी का मस्ला छिड़ा हुआ है। आपको मालूम होगा, कि शुमाली हिन्दुस्तान में आम तौर पर दो ज़बानें बोली और लिक्खी जाती हैं, यानी हिन्दी और उर्दू। हिन्दी ख़ास तौर पर हिन्दू क़ौम की ज़बान है। लेकिन मुसलमान ने हिन्दी उर्दू से ख़ुसूसन् इसलिये वाबस्ता हैं, कि उनके तर्ज़-माअशरत और अख्लाकियात् और मज़हबी जज़बात् की उससे तर्जुमानी होती है। अब सूरत-हाल यह है, कि सयासी तफ़र्क़ा के साथ हिन्दी और उर्दू का झगड़ा भी पैदा हो गया। और तमाशा यह है कि उर्दू दुनिया का एक बड़ा अदीब और जो एक ज़बर्दस्त मज़हबी पेशवा भी है, इस बात का मुद्दई है, कि एक नई ज़बान हिन्दुस्तानी की तरह डाली जाय।"

उर्दू का ढाँचा हिन्दी है, अर्थात्—उसका व्याकरण सुप् तिङ् प्रत्यय भारतीय हैं। लेकिन उधार के शब्दों—जो कभी-कभी सत्तर-सत्तर पचहत्तर-पचहत्तर फी सदी तक पहुँच जाते हैं—के कारण वह एक ऐसी भाषा बना दी गई है, कि जिससे उर्दूदाँ तक तंग आ रहे हैं। हाफ़िज़ जलालुद्दीन अहमद अपने 'क़न्द-उर्दू' में लिखते हैं :—

"ऐसे हज़रात जो अरबी व फ़ारसी की इस्तेदाद रखते हैं, वह जब उर्दू लिखते हैं, तो ज्यादातर अरबी के लुग़ात और फ़िक़रे लिख जाते हैं; जिनको उर्दूदाँ तो क्या मामूली फारसीख्वाँ भी नहीं समझ सकते। और इन हज़रात में बकसरत वह नक़्क़ाल भी शामिल हैं, जिनको अरबा व फ़ारसी की अधूरी व नाक़िस लियाक़त होती है, मगर महज़ इज़हारे-क़ाबिलियत के शौक़ में बड़े-बड़े लफ़्ज़ों का इस्तेमाल करने लगते हैं; जिसका लाज़िमी नतीजा यह होता है, कि उनकी बहुत सी इबारतें मुह्मल और बेमानी हो जाती हैं।" (पृष्ठ ८)

इसी बारे में सैय्यद सज्जाद हैदर (खुतबये-सदारत, हिन्दुस्तानी-एकेडमी १९३८ में) फरमाते हैं :—

"उन फ़ारसी अल्फ़ाज से जिन्हें हम फ़ारसी समझकर फ़ारसी में इस्तेमाल करते हैं, अहलेईरान उनपर चौंकते हैं, और हमारी हँसी उड़ाते हैं। यानी वह अल्फ़ाज फ़ारसी नहीं हैं। हमने उर्दू में उनको दूसरे मानी दे दिये हैं, और वह लफ़्ज़ बिलकुल हमारे हो गये हैं। आप उनको अपनी ज़बान से निकाल दीजिए। यहाँ से निकल कर वह बिल्कुल निघरे हो जायँगे; क्योंकि फ़ारसी या अरबी उन मानी में उन्हें कबूल न करेगी........जो आम शिकायत की जाती है, कि आज-कल उर्दू लिखनेवाले जान-जानकर गैरमानूस (अपरिचित)

सख्त अरबी फ़ारसी के अल्फ़ाज़ अपनी तहरीरों में ठूँसते हैं और रोज़मर्रा के सादा इस्तेमाल को अपने खिलाफ़े-शान समझते हैं; यह एक हद तक सही है; मगर मेरा ख्याल है, कि ज़िन्दा और तरक़्क़ी करनेवाली ज़बान हमेशा नये-नये लफ़्ज़ अपने में जज़्ब करती रहती है।"

अरबी-फ़ारसी शब्दों को कितनी मात्रा में हिन्दुस्तानी के भीतर जज़्ब कराने की कोशिश हो रही है, इसकी गवाही तो हिन्दीवाले और गाँव के किसान मुसलमान भी दे सकते हैं—जो हिन्दीवालों ही की तरह ऐसी भाषा के समझने में समर्थ हैं। हैदर साहब ने जीती-जागती भाषा को, नये-नये शब्दों के पचाने की बात कही है, लेकिन अपने शब्दों को छोड़कर विदेशी शब्दों का हज़म कर लेना, यदि जीती-जागती भाषा का कर्तव्य है; तो मुर्दा और अभागी भाषा कौन होगी? हर एक जीती-जागती भाषा को नये मुल्कों, नये लोगों, नये ज्ञान-विज्ञान के सम्पर्क में आने पर कितने ही शब्द लेने पड़ते हैं, और वह लेना ठीक भी है; लेकिन हम अनावश्यक शब्दों को क्यों लें? नये शब्दों को लेने में जब तक हमारे देश का पुराना और नया शब्द-कोष सहायता देने के लिए तैयार है; तब तक हम क्यों दुर्राष्ट्रीयता के हानिकारक भारी सूद पर दूसरे से कर्ज लेने जायँ? भाषा की एकता जाति की एकता को कायम रखती है, इसलिए भी विदेशी शब्दों को लेने में हमें फूँक-फूँककर पैर रखना होगा।

मैं यह मानता हूँ कि हिन्दी के लेखक बाज वक्त अनावश्यक संस्कृत शब्दों का प्रयोग करते हैं; और मैं हैदर साहब के शब्दों द्वारा ही उनसे कहना चाहता हूँ कि इन संस्कृत शब्दों से—जिन्हें वह संस्कृत समझकर इस्तेमाल करते हैं—संस्कृतज्ञ उन पर

चौंकते हैं और हमारी हँसी उड़ाते हैं। संस्कृत का अक्षय भांडार हमारी सहायता के लिए मौजूद है, लेकिन उसके इस्तेमाल में कई तरह की सावधानी अपेक्षित है। उन्हें भाषा में, विशेषकर साहित्यिक भाषा में वहीं ठीक तरह से इस्तेमाल कर सकते हैं, जो कि उन शब्दों की नब्ज को पहिचानते हैं। बिच्छू का मंत्र न जानकर साँप के बिल में हाथ डालनेवाले ऐसे लेखकों का पंडित पद्मसिंह शर्मा ने अपने 'हिन्दी-उर्दू और हिन्दुस्तानी' में अच्छा खाका खींचा है।

हमारे हैदर साहब अरबी के शब्दों को उर्दू में लेने के लिए एक ढंग बतलाते हैं। आप कहते हैं—

"मैंने यह उसूल ( सिद्धान्त ) क़ायम किया है......अरबी के जो अल्फ़ाज़ फ़ारसी के ज़रिये हम तक पहुँचते हैं, उर्दू उन्हें हज़म कर लेती है, मगर जो अल्फ़ाज़ बराहरास्त (सीधे) अरबी से लिये जाते हैं, उर्दू का मेदा उन्हें क़बूल करने से इन्कार करता है। फ़ारसी भी सादी व हाफ़िज़ की नरम व शीरीं फ़ारसी है, न कि आजकल की करख्त ( कर्णकटु ) ईरानी। अब तो फ़ारस के लिये अरबी के लफ़्ज़ का इस्तेमाल भी मम्नूअ (निषिद्ध) है।

उर्दू—जिससे कि आपका मतलब हिन्दुस्तानी भाषा से है—अरबी के शब्दों को सीधे स्वीकार करने से क्यों इन्कार करती है? छिपाकर रखने के बजाय आप इस बात को स्पष्ट क्यों नहीं कहते? इसका एक मात्र कारण यही है कि अरबी उस भाषा-वंश से बिल्कुल सम्बन्ध नहीं रखती, जिससे कि हिन्दुस्तानी का सम्बन्ध है। पारसी और हिन्दी एक भाषा-वंश और उसमें भी बहुत नज़दीक—सिर्फ तीन-चार पीढ़ियों (हिन्दी में अपभ्रंश, प्राकृत, पाली और वैदिक संस्कृत द्वारा और

फ़ारसी में पहलवी, पाजन्द और जन्द द्वारा) के अन्तर की बहनें हैं। इसीलिए जहाँ हिन्दी फ़ारसी के शब्दों को आसानी से ले सकती है, वहाँ अपनी बहन की सिफ़ारिश पर, कभी-कभी दूसरे शब्दों को भी, हैदर साहब के कथनानुसार ले लेती है। दरअसल फ़ारसी के शब्द हिन्दी में उतने अधिक हैं भी नहीं और उनके लिए हमें उतना ख़याल भी नहीं करना है। अस्वाभाविकतया अत्यन्त कठिन उर्दू में भी अरबी की अपेक्षा पारसी शब्द कितने कम आते हैं, उसके लिए हम सैयद अहमद सिद्दीक के उस वाक्य को देते हैं, जिसे कि पं० अमरनाथ झा ने अपने एक लेख में उद्धृत किया है—

"हज़रात ! मैं अंजुमन की तरफ़ से आपका शुक्रिया अदा करता हूँ, कि आपने इस तक़रीब में शिरकत की ज़हमत गवारा फरमाई। आपकी शिरकत हमारी इज़्ज़ते-अफ़जाई का मूजिब हुई और हमको उम्मीद है, कि यह दूसरी सालाना तक़रीब आपकी तवज्जुह और हमदर्दी से अपने मक़ासिद में मजीद कामयाबी हासिल करेगी।"

इस वाक्यावली में २३ शब्द विदेशी हैं, जिनमें सिर्फ ६ शब्द फारसी के हैं, बाकी सब अरबी के। उधार लिये शब्दों में आमतौर से फारसी शब्दों की संख्या इससे भी कम होती है। बान पड़ जाने के कारण हम अरबी फारसी दोनों के खिलाफ एक साँस में बोल जाते हैं। असल बात तो यह है कि पारसी हमारे लिए उतनी अछूत नहीं जैसी अरबी। पारसी का शब्द-शास्त्र हमारे शब्द-शास्त्र से भाई-भाई का सम्बन्ध रखता है।

अंगुश्त ( अँगूठा ), नाखून ( नख ) आदि ही नहीं, जौ, गन्दुम ( गोधूम या गेहूँ ), बिरंज ( व्रीहि, चावल ) आदि

हजारों शब्द भाषातत्व के नियमों के अनुसार कुछ हल्के से भेद रखते हैं। खेती की अवस्था में पहुँचने तक वस्तुतः भारतीयों और ईरानियों के पूर्वज एक थे।

हैदर साहब हिन्दी से विदेशी शब्दों को निकाले जाने के प्रयत्न को बुरा भला कहते हैं—

"यह कोशिश कि हिन्दी से फ़ारसी के अल्फ़ाज़ यानी विदेशी अल्फ़ाज़ ख़ारिज कर दिये जायँ, नेशनलिस्ट शराब के नशे का नतीजा है। ईरान और तुर्की के क़ौमपरवर भी इसी नशे से बदमस्त हैं। फ़ारसी से अरबी अल्फ़ाज़ को देश निकाला मिल रहा है। हिन्दी की इस नेशनलिश्ट तहरीक-जदीद ( नवीन आन्दोलन ) का क्या हश्र होगा, इसके मुताल्लिक़ इस वक़्त कोई अन्दाज़ा नहीं लगाया जा सकता, मगर मेरा दिल गवाही देता है, कि यह शिद्दत, यह तअस्सुब क़ायम नहीं रहेगा।"

इस उद्धरण से आपको यह भी मालूम हो जाता है, कि हिन्दी को व्यर्थ के विदेशी शब्दों के बोझ से लादने का जो विरोध हो रहा है, उसमें मज़हबी संकीर्णता काम नहीं कर रही है; यह तो नेशनलिस्ट शराब के नशे का नतीजा है। मुबारक है यह नेशनलिश्ट शराब! धन्य है यह नशा! हमारी जाति के लिए इस नशे की कितनी जरूरत है, इसके कहने की आवश्यकता नहीं।

नेशनलिस्ट शराब के नशे का मतलब है स्वतंत्रता, आज़ादी के लिए दीवानापन, राजनीतिक और साहित्य सभी तरह की स्वतंत्रता के लिए अधीर होना। तुर्की और ईरान, और हिन्दुस्तानी भी इस नशे को छोड़कर फिर अपने पुराने दुस्वप्न में चले जायँगे, इसकी गवाही जो दिल देता है, वह भ्रम में है।

बल्कि एक बात और है—तुर्की और ईरान में जितने ज़ोर से अरबी शब्दों को देश निकाला मिल रहा है, उसका तो हम शतांश भी नहीं कर रहे हैं; यह तो आप मेरे इस भाषण से भी कम से कम समझ सकते हैं। सभी विदेशी शब्दों के बहिष्कार की हम घोषणा भी नहीं कर रहे हैं। अभी कितने ही वर्षों तक हिन्दी-वाले सैकड़ों अरबी शब्दों का प्रयोग करते रहेंगे। बहुप्रचलित शब्दों का एकदम निकाला जाना भाषा की कोमलता पर बहुत असर डालता है; विशेषकर ऐसे शब्दों का जो कि हमारी भाषा में भाव प्रकाशित करने में एक विशेष स्थान ग्रहण कर चुके हैं। हमारा तो सीधा उत्तर है—हम अपने परिवार में बेकारी बढ़ाकर दूसरों को नौकरियाँ नहीं बाँटते फिरेंगे।

मेरी समझ से उस हिन्दुस्तानी भाषा का भविष्य बिल्कुल अंधकारपूर्ण है; जिसने खुशरो, वली, आतिश के द्वारा प्रयुक्त हिन्दी शब्दों को भी निकालकर अरबी-पवरी का व्रत ले रक्खा है। लेकिन यहाँ हमारी जिम्मेवारी एक ओर और भी हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। जो जाति परदेशी कवियों और प्रतिभाओं का आदर करने के लिए तैयार है; वह अपनों का आदर क्यों न करेगी। सौदा और आतिश हमारे हैं, ग़ालिब और दाग़ हमारे हैं। निश्चय ही यदि हम उन्हें अस्वीकृत कर दें, तो संसार में कहीं और जगह उन्हें अपना कहने-वाला नहीं मिलेगा। लेकिन उन्हें निघरा करना हमारी शक्ति के बाहर है; उसी तरह जैसे ईरानी हाफ़िज़ और सादी को निघरे नहीं कर सकते। तो भी यह निश्चित है कि वह अरबी-भरी भाषा दिन पर दिन लोगों के लिए अपरिचित होती जायगी। इस महल की ईंटें एक-एक करके खिसकने लगी हैं। जैसा कि सर, तेजबहादुर सप्रू और हैदर साहब के ऊपर उद्धृत लेख से मालूम होता है। हमारी हिन्दी कौम ने

ही, इस देश में वली, मीर, सौदा, इंसा, आतिश, नज़ीर, ग़ालिब, ज़ौक, दाग़, हाली, अकबर जैसे कवि पैदा किये हैं। उन्होंने अपनी प्रतिभा द्वारा एक सुन्दर काव्योद्यान सजाया है। यद्यपि उनकी हिन्दी भाषा अत्यधिक अरबी शब्दों के भरमार से दूषित हो गई है; लेकिन वह सदोषता तो उस काल और धार्मिक विश्वास के कारण उन्हें जन्म से मिली थी; इसमें उनका अपराध क्या ? हो सकता है, अभी हमारे दिल में धार्मिक पक्षपात कुछ काम करे; लेकिन भविष्य की सन्तान तो निश्चय ही हिन्दू, मुसलमान तथा दोनों के आजकल के पारस्परिक झगड़ों का स्मरण भी न रक्खेगी। निश्चित है, जिस दिन मज़हब को इस मुल्क से जवाब मिला, उसी दिन भहराकर यह सारी इमारत ज़मीन पर आ गिरेगी। शायद कितने ही भाई समझते और कहते हैं, कि मज़हब ने बहुत उतार-चढ़ाव देखे हैं, वह इस युग के इस प्रचण्ड धर्म विरोधी तूफान को भी सह लेगा। लेकिन हमारे भाइयों का यह विश्वास सिर्फ़ विश्वास पर आश्रित है। मज़हब को कभी इतने ज़बरदस्त और इतने स्थिर तूफ़ान से मुकाबला नहीं करना पड़ा। पैदा होते ही मज़हब ने राजशक्ति का संरक्षण पाया था। आज राजशक्ति के छीनने के लिए धनियों और जांगर चलानेवालों का संघर्ष चल रहा है। इस संघर्ष में दुनिया के छठे हिस्से के जांगर चलानेवालों ने विजय पाई है; और वहाँ से मज़हब बोरिया बँधना बाँधकर कूच करना चाहता है। अब तो धनी शोषक-श्रेणी के मज़हब का भी ख़ात्मा होने वाला है। उर्दू वालों का आग्रह सिर्फ मज़हब के जोर के ख़ात्मे पर थमा हुआ है; जो कि मुझे चन्द शताब्दियों की बात नहीं मालूम होती।

हाँ, तो सवाल है—सौदा और ग़ालिब की कृतियों के लिये हमें क्या करना होगा। मैं कह चका हूँ कि वे हमारे हैं और

हमारे रहेंगे। शताब्दियाँ बीतती जायँगी और हम ग़ालिब की कविताओं और उनके सुन्दर पत्रों को बड़े चाव से पढ़ेंगे। उनकी उस जिन्दा-दिली और मज़हब के ठेकेदारों के लिये लिखी गई प्रतारणाओं को हम दाद देंगे। ग़ालिब ने आज से एक सदी पहले इन विचारों को फैलाना शुरू किया (उर्दू-ये-मुअल्ला; भाग २ पृष्ठ १६३)—

"कहाँ की मर्सियाखानी—आज़ादी का शुक्र बजा लाओ, ग़म न खाओ। और अगर ऐसे ही अपनी गिरिफ़्तारी से खुश हो तो चुन्नाजान न सही तो मुन्नाजान सही। मैं जब बहिश्त का तसव्वुर करता हूँ; और सोचता हूँ, कि अगर मग़फ़रत (क्षमा-प्राप्ति) हो गई और एक कस्र (महल) मिला और एक हूर (अप्सरा) मिली। अक़ामत (रहना) जावदानी (अनन्त काल के लिये) है। और उसी एक नेकबख़्त (भागमती) के साथ ज़िन्दगानी। इस तसव्वुर (सोच) से जी घबराता है, और कलेजा मुँह को आता है। है है वह हूरन् (अप्सरा) अजीरन हो जायगी। तबीयत क्यों न घबरायेगी ? वही ज़मुर्रदीन् (पन्ने का) काख़ (प्रासाद) और तूबा (कल्पवृक्ष) की एक शाख, चश्म-बद् दूर (नज़र न लगे) वही एक हूर।"

"ख़ूब मालूम है जन्नत की हक़ीक़त लेकिन।
दिल के बहलाने को ग़ालिब यह ख्याल अच्छा है।"

"लिखते हो कि रुबाइयाँ भेज, क़सीदा भेज। मानी इसके यह कि तू झूठा। अब के तू मुकर्रर (अवश्य) भेजेगा। भाई कुरान क़सम, इञ्जील की क़सम, तौरेत की क़सम, जबूर की क़सम, हनूद (हिन्दुओं) के चार वेद की क़सम, दसातीर की क़सम, ज़न्द की क़सम, पाज़न्द की क़सम, उस्ताद की क़सम,

गुरू के ग्रन्थ की क़सम; न मेरे पास वह क़सीदा न मुझे वह रुबाइयाँ याद हैं।"

इन अमर कवियों की कृतियों को, भाषा में बहुत फर्क हो जाने पर भी हम वैसे ही नहीं भुला सकेंगे; जैसे अश्वघोष और कालिदास को, दंडी और बाण को। मैं तो बल्कि हिन्दी साहित्य की सम्माननीय संस्थाओं और प्रकाशकों से प्रार्थना करूँगा, कि वह इन अमर काव्यकारों की कृतियों को नागरी अक्षरों में प्रकाशित करने का काम हाथ में लें। हमारे इन कवियों की कृतियाँ उर्दू में प्रकाशित हो चुकी हैं। उनके जीवन पर भी बहुत से निबन्ध लिखे जा चुके हैं। अच्छा है कि उनका एक सुसंपादित संस्करण नागरी अक्षरों में निकाला जाय। यह नागरी अक्षरों का सुन्दर गुण है, जो कि अरबी शब्दों की बहुतायत होने पर भी हम उन्हें सुपाठ्य रूप में प्रकाशित कर सकते हैं। अच्छा हो, यदि एक एक कवि की सारी ग्रन्थावली क्रम से प्रकाशित की जाय, पाठ-भेद आदि देकर शुद्ध पाठ पर पहुँचने की कोशिश की जाय; जैसे कि अब प्रथा चल गई है, विदेशी क्लिष्ट शब्दों की पादटिप्पणी भी नीचे फुटनोट में दे दी जाय। पुस्तक के आरम्भ में कवि की प्रामाणिक जीवनी तथा अन्त के परिशिष्ट में विदेशी उपमाओं और कथानकों का स्पष्टीकरण कर दिया जाय। पहले हम चोटी के कवि ख़ुसरो, वली, सौदा, ग़ालिब, ज़ौक, दाग़, हाली और अकबर की ग्रंथावलियों को ले सकते हैं।

उर्दू भाषा के सम्बन्ध में कहते वक्त लिपि के बारे में कुछ कहना जरूरी है। उर्दू जिस अरबी लिपि में लिखी जाती है, वह कितनी दूषित और अपूर्ण है, इसके लिए बहुत कहने की आवश्यकता नहीं। देश के सभी स्त्री-पुरुषों का साक्षर होना चाहिए—यह मानी हुई बात है; और सार्वजनीन साक्षरता में उर्दू की अरबी-

लिपि अत्यंत बाधक है। दस वर्ष पढ़ने पर भी कोई ठीक ठिकाना नहीं, कि कहाँ तो लिखा जाय और कहाँ ते, कहाँ सीन लिखा जाय और कहाँ से। ऐसी लिपि सार्वजनीन साक्षरता के लिए भारी अभिशाप है। लेकिन जैसे हमारे उर्दू-प्रेमी भाई धर्म के नाम पर अरबी के हजारों शब्दों को हजम करने का प्रयत्न कर रहे हैं, वैसे ही वे परिणाम का कुछ भी ख्याल न करके अरबी-लिपि को पकड़ रखना चाहते हैं। वे समझते हैं कि इस शब्द और लिपि को छोड़ देने पर मजहब नहीं रहेगा। मज़हब तो नहीं रहेंगे,यह निश्चित है। कितनी ही जिद कीजिए,ऐसी लिपि और ये ऊटपटाँग शब्द-सम्मिश्रण, जिन्हें खुद इस्लामी देशों ने ठुकरा दिया है, एक दिन यहाँ से भी निकल के रहेंगे।

अरबी लिपि देखने में बहुत कुरूप है, यद्यपि आज के कितने ही सच्चे आशिक अपने महबूब पर इस प्रकार का लांछन सुनना नहीं चाहेंगे। लेकिन इसमें सन्देह की गुंजायश नहीं, यह तो इससे भी सिद्ध है, कि जब ईरानी दिमाग ने अरबी अक्षरों के आकार को सुधार कर सुन्दर नस्तालीक का रूप दिया, तो लोगों ने कुरान के लिए ही पुराने अरबी अक्षरों को छोड़ रखा, और शताब्दियों से ईरान, अफगानिस्तान, तुर्किस्तान और हिन्दुस्तान में कितने ही सुलेखकों ने हजारों सुन्दर पुस्तकें नस्तालीक में लिखीं; जिन्हें देखकर आज भी तबीयत प्रसन्न हो जाती है। नस्तालीक सुन्दर है, यद्यपि उच्चारण के सम्बन्ध में उसमें भी वही सारे दोष हैं,जोकि नस्ख में। छापे के लिये नस्ख में ज्यादा सुभीता है। संयुक्त और असंयुक्त अक्षरों के लिए टाइप के खानों की संख्या अधिक हो जाती है, तो भी उसका टाइप मौजूद है। छापे के सुभीते के कारण उर्दू वाले नस्तालीक़ के सौन्दर्य से मोह से लिथो में ही छपाई करते हैं। हैदर साहब अपने उसी भाषण में इनके सम्बन्ध में फ़रमाते हैं—

"हज़रात ! जब तक आप लिथो के शिकञ्जे से अपने अख़बारात, अपनी किताबों को आज़ाद न करेंगे, मेरी राय में उर्दू पूरी तरक्की नहीं कर सकती।.........................लिथो के तरफ़दार और उसके शैदाई अक्सर यह कहा करते हैं, कि उर्दू नस्तालीक़ में लिखी जाती है, और नस्तालीक़ लिथो में छप सकता है। यह सही है, कि अच्छा नस्तालीक़-टाइप अब तक नहीं बन सका; और मेरा ख्याल है कि बन सकता नहीं... ......हामियानेलिथो कहते हैं कि जब नस्तालीक़ का अच्छा टाइप नहीं बन सकता, तो लामुहाला उर्दू नस्ख़ में छापी जायगी और खूबसूरत और दीदाजेब नस्तालीक़—जिसमें हिन्दुस्तान ने इतनी तरक्की की है—एक क़लम मादूम हो जायगा यह एतराज़ सही है।...............तुर्कों का मज़ाक लतीफ़-तर है। इसलिए उनका टाइप भी खूबसूरत था। इस्ताम्बूल के हसीन टाइप के वह हसीन हरूफ़ न मालूम अब क्या हो गये होंगे ? काश ! उन्हें ख़रीद कर यहाँ मँगा लिया जाता।"

तुर्कों ने तो अपनी राष्ट्रीयता के नशे में न जाने कितनी हसीन-हसीन चीजें ख़त्म कर दीं। हमारे कुछ हिन्दी मुसलमानों के दिल ने दर्द महसूस किया और इसके फलस्वरूप आप देख रहे हैं, कि जहाँ तुर्की टोपी तुर्की से, वर्षों हो गये, लुप्त हो गई, वहाँ हमारे दर्द-दिल ने इस एक हसीन चीज़ को पुराने अरबी टाइपों की तरह पिघल कर लुप्त होने नहीं दिया लेकिन ईरान और तुर्की के ऊपर जो गहरा कौमियत का नशा छाया है, जिसके कारण कि दीवाना होकर वे लोग अपनी अच्छी-अच्छी चीजें दूर फेंक रहे हैं; उनकी रक्षा का भार क्या सिर्फ हमारे हम्वतनियों के ही ऊपर रह गया है ? अच्छा तो होता कि मज़हब के नशे में बदमस्त हमारे वे दोस्त तुर्की और ईरान के चरणों में बैठकर कुछ नवजीवन का पाठ पढ़ते; लेकिन शिक्षा क्या ग्रहण

करेंगे, ये तो वहाँ से निकाल बाहर की गई रस्मों के लिये खूब अफ़सोस करते हैं, और उनसे चिमटे रहना अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

हैदर साहब सभी कठिनाइयों को अच्छी तरह समझते हैं; और इसलिए वह परिवर्तन को भी कुछ हद तक पसन्द करते हैं, लेकिन साथ ही उनकी कोशिश यह है कि उनका कोई सह-धर्मी उनपर कुफ्र का फ़तवा न दे दे। इसीलिए वह धर्म की गठरिया सिर पर लिये फिरते हैं। आगे आप कहते हैं—

"हमारी मत्बूआ (छपी) किताबों में एराब (स्वर)—जबर (अ), ज़ेर (इ) पेश (उ) का इस्तेमाल ज्यादा होना चाहिये। हमारे रस्मुल्ख़त् (वर्णमाला) पर यह इल्ज़ाम है, कि इसमें जो इबारत (वाक्य) लिखी जाती है, उसके सहीह पढ़ने के लिये यह ज़रूरी है, कि पढ़ने वाला इबारत के अल्फ़ाज़ (शब्दों) के सहीह तलफ्फुज (उच्चारण) से पहले से वाकिफ़ हो; वर्ना (अन्यथा) मुल्क को मलक्, मलिक्, और मिलक् पढ़ सकता है। यह एतराज़ बिलकुल सहीह है; और इसे रफ़ा (दूर) करने के लिये एराब (स्वर चिह्न) ईजाद किया गया। हमने इस ज़रूरी चीज़ का इस्तेमाल बिलकुल छोड़ रक्खा है, और इसकी वजह से अच्छे पढ़े लिखे आदमी इबारत के पढ़ने में ग़लतियां करते हैं।.........  ........

"मैंने एक रेज़ूल्युशन रोमन हरूफ़ के रवाज देने के मुताल्लिक पेश किया था...अब फिर आपको बहकाने और आपके दर्दसर का बाइस (कारण) होने के लिए मैं उसी राग को अलापता हूँ। मैं नहीं कहता कि तुर्कों की तरह कानूनन हिन्दुस्तानी को फ़ारसी हरूफ़ या नागरी हरूफ़ में लिखना बन्द कर दिया जाय, और हर शख्स मजबूर किया जाय, कि वह रोमन में लिखे पढ़े। नहीं

मेरी अर्ज़ यह है, कि मौजूदा फ़ारसी ख़त (वर्णमाला) और नागरी ख़त जारी रहे, मगर साथ इसके रोमन को भी रवाज देने की कोशिश की जाय।.........नागरी रस्मुल्ख़त (वर्णमाला), बशर्तेकि तमाम मात्रों के साथ लिखा जाय, आसानी से पढ़ा जा सकता है। बरख़िलाफ़ इसके अरबी-रस्मुल्ख़त् (वर्णमाला) मुख़्त-सर्नवीसी (त्वरित लेखन) का एक उम्दा नमूना है"।

आपको इससे स्पष्ट हो गया होगा, कि विद्वान लेखक अरबी शब्दों के सम्मिश्रण और अरबी लिपि के दोषों को अच्छी तरह समझता है, और साथ ही नागरी-लिपि के गुणों से भी परिचित है; तो भी अपने सहधर्मियों के दुराग्रह के कारण नागरी के अपनाने के लिए प्रस्ताव न कर, रोमन के लिए हल्के दिल से वकालत करता है। जब तक मज़हब का बोलबाला है, कम से कम उर्दू के पक्षपातियों में तब तक रोमन के भी अपनाये जाने की सम्भावना नहीं है; हालाँकि मेरी समझ में बेहतर होता, यदि हमारे कांग्रेस के सूत्रधार हर एक साक्षर के लिए उर्दू और नागरी दोनों की वर्णमालाओं को अनिवार्य करने की जगह नागरी और उर्दू लिपियों को अपने भाग्य पर छोड़ देते, और रोमन को अनिवार्य कर देते। यह कहकर मैं नागरी लिपि को दोषपूर्ण नहीं बतला रहा हूँ, और न नागरी लिपि के लिए मेरा प्रेम कम है। मेरा तो विश्वास है कि यदि कुछ साधारण से सुधार—संयुक्त अक्षरों का परित्याग, 'अ' पर मात्रा देकर 'इ' आदि का व्यवहार तथा हलन्त चिह्नों द्वारा संयुक्त अक्षरों के स्थान की पूर्ति कर ली जाय, तो छापाखाने के लिए ८८ टाइपों की नागरी लिपि जितना उपयुक्त साबित होगी, उतना रोमन तथा दूसरी कोई संसार की लिपि नहीं हो सकती। मैं देखता हूँ कि उर्दूवाले अपनी ज़िद पर डटे हुए हैं, और हमारे राष्ट्रीय नेता किसी न किसी तरह उन्हें प्रसन्न रखना चाहते हैं—चाहे उसमें

सफलता हो चाहे न हो--इसका परिणाम हमें यह भुगतना होगा कि नागरी के साथ उर्दू अक्षरों को भी पढ़ना पड़ेगा। कचहरियों तथा सरकारी कागज़ों में दोनों लिपियों का प्रयोग हमारे ऊपर उस उर्दू लिपि पढ़ने का बोझ भी लाद देगा, जिसके बारे में अभी उर्दू के एक प्रतिष्ठित लेखक को कहते सुना—"इसकी वजह से अच्छे पढ़े लिखे आदमी इबारत (वाक्य) के पढ़ने में गल्तियाँ करते हैं।"

यहाँ के इस हिन्दी-उर्दू झगड़े के वक्त हमें यह भी ख्याल रखना चाहिए, कि हिन्दी-भाषा भारत की "राष्ट्रीय" भाषा बनती जा रही है, और इस वक्त सोलह करोड़ नहीं, भारत की छत्तीस करोड़ जनता को उसका ज्ञान आवश्यक है। ऐसी अवस्था में भारत की सभी भाषाओं में जितना ही अधिक समान अंश होगा, उतना ही हिन्दी समझने में लोगों को आसानी होगी। हिन्दी-उर्दू का प्रश्न—अर्थात् भाषा में विदेशी शब्द अधिक रहने चाहिये या संस्कृत तत्सम, तद्भव शब्द—सिर्फ हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्त का प्रश्न है। गुजराती मुसलमान भी अपने देशभाई हिन्दुओं की भाँति ही गुजराती भाषा और साहित्य का अध्ययन और अनुशीलन करते हैं। यही बात बंगाली मुसलमान के बारे में भी लागू है। भारत के सभी प्रान्तों की भाषाएँ—तेलगू, मलयालम आदि तक भी अपने भीतर बहुत भारी संख्या में संस्कृत तत्सम-तद्भव शब्दों को रखती हैं। संस्कृत तत्सम-तद्भव शब्दों के स्वीकार करने का सिद्धान्त हिन्दी में नहीं, भारत की अन्य भाषाओं में, शताब्दियों पहले स्वीकार किया जा चुका है। यदि हम आज उस सिद्धान्त को छोड़ते हैं तो अपनी भाषा को—जो अपनी उक्त विशेषता के कारण पढ़ने समझने में सरल हो सकती थी—और दुरूह बनाते हैं।

———

# अभिव्यंजनावाद

[ आचार्य पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ]

सत्रहवीं शताब्दी के योरप में पुरानी ग्रीक-कला का आकर्षण और प्रभाव अधिक था। साहित्य-समीक्षा में भी उक्त ग्रीक-कला का आधार लेकर नये सिद्धांतों का निर्माण हो रहा था। ग्रीक-कला अपने समय में चाहे जितनी समृद्ध रही हो, परंतु १७वीं शताब्दी के समीक्षकों के लिए वह जीवन के बाहर की ही वस्तु रही होगी। तत्कालीन जीवन से संपर्क न रहने के कारण, उस प्राचीन ग्रीक-कला की जो व्याख्या इन समीक्षकों ने की, वह युग के साहित्यिक विकास में पूरी तरह सहायक न हो सकी। क्रमशः समीक्षकों का ध्यान ग्रीक-कला की ओर से हटने लगा और वे सामयिक जीवन की प्रेरणा से उत्पन्न हुई कविता तथा कला के रहस्यों को जानने की ओर झुके। यहीं से साहित्य-समीक्षा पर 'रोमेन्टिसिज्म' ( कल्पना या स्वच्छंदतावाद ) का प्रभाव बढ़ने लगा। जर्मनी में लेसिंग, विंकेलमैन, कान्ट और गेटे जैसे कला-समीक्षक और दार्शनिक इस नये साहित्यिक आंदोलन का नेतृत्व कर रहे थे। इँगलैंड में शेली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ जैसे कवि तथा कोलरिज जैसे समीक्षक नई धारा का उन्नयन कर रहे थे। फ्रांस में नई राज्यक्रांति द्वारा नवीन प्रजातंत्र का उदय हुआ था जिससे समस्त योरपीय साहित्य में स्वच्छंदता की भावना फैल गई थी। प्राचीन समाज के स्थान पर नये समाज की प्रतिष्ठा हो रही थी। पुराने बंधन और रूढ़ियाँ सामाजिक

जीवन से हट रही थीं और साहित्य तथा कलाओं पर भी इसका प्रभाव पड़ रहा था।

लेसिंग और विंकेलमैन प्राचीन ग्रीक-कला का नया विश्लेषण करनेवाले प्रमुख आचार्य थे, परंतु इन दोनों का झुकाव नये युग की विकास-धारा की ओर भी था। लेसिंग ने सर्व-प्रथम प्राचीन ग्रीक-कला की नये युग की पृष्ठभूमि पर नई व्याख्या की। विंकेलमैन उससे एक कदम और आगे बढ़ा तथा उसने ग्रीक-कला को साधन बनाकर नई युग-चेतना का प्रभाव स्पष्ट किया। लेसिंग का सिद्धांत प्रायः सौंदर्य-सिद्धांत कहा जाता है। उसके अनुसार काव्य और कलाएँ आत्मा के सौंदर्य को अभिव्यक्त करती हैं। आत्मसौंदर्य से सम्पन्न अभिव्यंजना ही काव्य है, यह उनका मत था। विशेषकर उन्होंने मूर्तिकला को अपने सिद्धांतों के समर्थन के लिए चुना और लेकून ( Laocoon ) नामक प्राचीन ग्रीक-मूर्तियों की व्याख्या की। लेकून-वर्ग की मूर्तियों में एक पौराणिक घटना का आधार ग्रहण किया गया है। भीषण सर्प लेकून के परिवार को निगल जाते हैं और स्वयं लेकून को चारों ओर से लपेटकर अपने विषपूर्ण फणों से दंशन करते हैं। इस भीषण परिस्थिति में लेकून की मनोदशा का चित्रण करनेवाली मूर्ति अंकित की गई है। ग्रीक कलाकार ने इस मूर्ति में लेकून का चीखना, कराहना अंकित नहीं किया है। केवल विषादपूर्ण उच्छ्वास की मुद्रा उसके मुख पर अंकित की है। लेसिंग ने इसकी व्याख्या करते हुए बताया है कि मूर्तिकला के क्षेत्र में यही उचित भी था, क्योंकि यदि मूर्तिकार ने सर्प से वेष्टित लेकून को रोता और चीखता हुआ दिखाया होता तो मूर्ति में असुन्दरता आ जाती, और उसका दर्शकों पर अच्छा प्रभाव न पड़ता। इन विचारों से यह स्पष्ट है कि यद्यपि भावाभिव्यं-

जना को लेसिंग कला का उद्देश्य मानता था, परंतु साथ ही साथ कलागत सौंदर्य को भी वह अनिवार्य मानता था। मूर्ति की असुन्दरता उसे सह्य न थी, भले ही वह वास्तविक भाव की अभिव्यंजना न कर रही हो। सौंदर्य और अभिव्यंजना के तत्त्वों का संयोग इस सिद्धांत में है। अभिव्यंजना काव्य तथा कला का लक्ष्य है, पर सौंदर्य भी उसका अनिवार्य गुण है। वह अभिव्यंजना जो सौंदर्य से हीन है, श्रेष्ठ अभिव्यंजना नहीं है—यह आचार्य लेसिंग का मत था।

विंकेलमैन ने इस सिद्धांत को और आगे बढ़ाया तथा कला में अभिव्यंजना के तत्त्व को और स्पष्ट किया। उसने प्राचीन ग्रीक मूर्तियों का अध्ययन कर तथा प्राचीन ग्रीक-काव्य का अनुशीलन कर उसके कई विभाग निर्धारित किये। आदिम ग्रीक-कला के प्रथम प्रतिनिधि होमर थे। विंकेलमैन की दृष्टि में उनकी कला बहिरंग में रूक्ष या ऊबड़-खाबड़ थी, परंतु उसका अंतरंग अत्यधिक बलिष्ठ और संपन्न था। परवर्ती ग्रीक-कला में बाह्य अंगों की शोभा अधिक बढ़ चली और अंतरंग की सामग्री क्षीण पड़ने लगी। इस प्रकार विंकेलमैन ने कला में अभिव्यंजना के तत्त्व को मुख्य मानकर उसके विविध भेदों को उद्घाटित किया। लेसिंग के सौंदर्य-सिद्धांत की अपेक्षा विंकेलमैन का यह अभिव्यंजनावाद अधिक तात्त्विक भूमि पर स्थित है। क्रमशः कान्ट जैसे दार्शनिक और गेटे जैसे कवि ने साहित्यिक और कलात्मक प्रेरणा के वास्तविक रूप को और अधिक स्पष्टता के साथ व्यक्त किया। कान्ट के मत में कलाओं का स्थान मध्यवर्ती स्थान है, उसके एक ओर विशुद्ध ज्ञान ( Pure reason ) की भूमि है तथा दूसरी ओर व्यावहारिक ज्ञान ( practical reason ) का प्रदेश है। इन दोनों के मध्य में कला की भूमि है जिसे वह

अनुभूति ( Judgement ) नामक तत्त्व का क्षेत्र मानता है। कान्ट ने अपने तीनों ग्रंथों में क्रमशः इन्हीं तीन तत्त्वों की विस्तृत व्याख्या की है। 'क्रिटिक आफ प्यूर रीजन' में उसने विशुद्ध ज्ञान अथवा आध्यात्मिक तत्त्व का निर्देश किया है। 'क्रिटिक आफ प्रेक्टिकल रीजन' में उसने व्यावहारिक क्षेत्र में व्यक्त होनेवाले ज्ञान की व्याख्या की है। 'क्रिटिक आफ जजमेंट' में सौंदर्य-क्षेत्र में आनेवाली काव्य तथा कला आदि वस्तुओं का उल्लेख किया है। इस प्रकार कान्ट ने संभवतः सर्वप्रथम कला-क्षेत्र की स्वतंत्रता का निरूपण किया। आगे चलकर कला-समीक्षकों ने काव्य-कला की इस स्वतंत्र भूमि का और भी विशद स्पष्टीकरण किया।

इस विवेचना के फलस्वरूप फैलनवाले नवीन साहित्यिक आंदोलन को सामान्य रूप से रोमेन्टिसिज्म (Romanticism) की संज्ञा दी जाती है। इसकी समीक्षा का मुख्य आधार बाहरी नियमों और आंगिक सौंदर्य की उपेक्षा करके रचना-संबंधी आंतरिक प्रक्रिया और अंतरंग नियमों को जानने के प्रयास में देखा जाता है। रोमेंटिसिज्म की पहली निष्पत्ति यही थी कि कवि किसी बाह्य प्रक्रिया या नियम से बाधित नहीं। आगे चलकर काव्य-रचना के प्रेरक कारणों और निर्माण के साधनों के अनुशीलन की ओर समीक्षकों की दृष्टि गई। कोलरिज ने साहित्य की परिभाषा इन शब्दों में की "It is the excitement of emotion for the purpose of immediate pleasure through the medium of beauty." ( अर्थात् सौंदर्य के माध्यम से भावों का वह उन्मेष जो तात्कालिक सुखानुभूति की सृष्टि करता है, काव्य है )। इस व्याख्या में आये हुए, 'भावों का उन्मेष', 'तात्कालिक सुखानुभूति' तथा 'सौंदर्य का माध्यम' विशेष ध्यान देने

योग्य वाक्यांश हैं। कवि के मन में भावों का उठना ही पर्याप्त नहीं है, श्रोताओं या पाठकों को भी उसकी प्रतीति होना आवश्यक है। 'भावोन्मेष' से यही तात्पर्य है। 'तात्कालिक सुखानुभूति' का अर्थ यह है कि सुखानुभूति का सीधा संबंध उस रचना से ही है। दूसरे प्रकार की सुखात्मक अनुभूतियाँ भी हो सकती हैं, जिनका काव्यानुभूति से कोई सम्बन्ध न हो। तात्कालिक सुख से यह स्पष्ट है कि कला का आमोद वस्तु से अभिन्न होता है। जब तक वह वस्तु हमारे संमुख है, तभी तक उसके आनन्द की अनुभूति होती है। 'सौंदर्य माध्यम' से कोलरिज का तात्पर्य कला के बाह्य या आंगिक सौंदर्य से नहीं था। वह यहाँ कवि की कल्पना द्वारा सृजन किए गये सौंदर्य (अभिव्यंजना के सौंदर्य) की ओर संकेत कर रहा है। यह सौंदर्य मानसिक सत्ता रखता है। कोलरिज की इस व्याख्या में कला-सम्बन्धी नवीन दृष्टिकोण का पूरा स्थान दिखाई पड़ता है। उसने दार्शनिक दृष्टि से भी यह निरूपण किया है कि कवि के मन तथा बाह्य जगत् के सम्मिलन में ही कला की सत्ता है। दूसरे शब्दों में वह बाह्य जगत् को कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं मानता। मानसिक प्रक्रिया के अंतर्गत ही बाह्य जगत् का स्थान है। अतएव इस दार्शनिक आधार पर वस्तु जगत् और मन का अंतर दूर हो जाता है तथा कवि की मानसिक चेष्टा ही कलानिर्माण का एकमात्र आधार बन जाती है। इस प्रकार दार्शनिक दृष्टि तथा काव्य और कलाओं की नवीन व्याख्याओं से योरोप का समस्त कलात्मक विवेचन अंतर्मुखी होता जा रहा था और काव्य तथा कला की व्याख्या किन्हीं बाहरी नियमों पर आश्रित न होकर कवि की रचनात्मक विशेषताओं के विवेचन से ही सम्बद्ध होने लगी थी। कला का मानसिक और आध्यात्मिक

आधार स्पष्ट होने लगा था। कान्ट ने इस प्रगति को और भी सुदृढ़ दार्शनिक भूमि पर ला रखा। उसके मत का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। कान्ट के निरूपण से एक तो कला की मानसिक सत्ता की प्रधानता सिद्ध हुई और दूसरे मानसिक व्यापारों के तीन स्वरूपों का परिचय मिला। दार्शनिक ज्ञान से तथा व्यावहारिक या नैतिक तथ्य से कलावस्तु की भिन्नता का भी पूरा आभास मिला।

यह स्वाभाविक है कि आत्मानुभूति-प्रधान इस साहित्यिक युग में कल्पना-तत्त्व की प्रधानता स्वीकार की जाय और उसे जीवन की सर्वोत्कृष्ट विभूति माना जाय। कल्पना कवि की अपनी प्रतिभा का परिणाम होता है। अतएव वह अपने मूल स्वरूप में व्यक्तिगत है। परंतु कवि द्वारा सृजन किया गया कल्पना का जगत् ऐसा नहीं होता कि दूसरे उसका अनुभव न कर सकें। कवि-कल्पना की यह सार्वजनिकता कवि के काव्य को व्यक्तिगत परिधि से बाहर ले जाकर सबके लिए सुखकारक बना देती है। गेटे ने काव्य के इस उभय स्वरूप (व्यक्तिमुखी और सार्वजनिक) को अच्छी तरह अभिव्यक्त किया। काव्य यद्यपि कवि की अपनी कल्पना का परिणाम है, परन्तु उसका उत्कर्ष सार्वजनिक बन जाने में ही प्रकट होता है। 'रोमेंटिसिज्म' के आरम्भिक युग में व्यक्तिवाद की प्रमुखता हो रही थी और काव्य के भाव-जगत् को सार्वजनिक वस्तु स्वीकार करने में कठिनाई थी। परन्तु गेटे और कोलरिज जैसे कवि और समीक्षकों की चेष्टा से काव्यगत अभिव्यञ्जना को व्यक्तिगत भूमि से ऊपर उठाकर लोकसामान्य भूमि पर ले जाने में सहायता मिली। इस प्रकार अनेकमुखी उद्योगों द्वारा साहित्य में अभिव्यंजना-सिद्धांत की प्रतिष्ठा हुई जिसे आगे चलकर एक शास्त्रीय रूप भी प्राप्त हुआ। यों तो दार्शनिक क्षेत्र

में कान्ट ने काव्य को स्वतंत्र सत्ता प्रदान की थी, परन्तु काव्य-गत अभिव्यंजना सिद्धांत को शास्त्रीय रूप में उपस्थित करने का श्रेय प्रसिद्ध इटेलियन काव्य-मीमांसक क्रोचे को है। क्रोचे ने सर्वप्रथम एक वाद के रूप में इस सिद्धांत को पल्लवित किया और इसे काव्य-कला का एकमात्र सिद्धांत या सत्य घोषित किया।

क्रोचे के मत में काव्य तथा कलाएँ एक स्वतंत्र और निर-पेक्ष आध्यात्मिक व्यापार का परिणाम हैं। क्रोचे के मत में ज्ञान के दो स्वरूप हैं—१. तार्किक ज्ञान जो निर्णयात्मक होता है, और २. कलात्मक ज्ञान जो मूर्तियों के माध्यम से प्रत्यक्ष होता है। तार्किक ज्ञान वस्तुओं के परस्पर सम्बन्ध को सूचित करता है तथा कलात्मक ज्ञान एक-एक वस्तु का स्वतंत्र होता है।

क्रोचे का कथन है कि कवि के मन पर दृश्य-जगत् की नाना वस्तुओं की जो छाया पड़ती है, उन्हीं को नया बिंब प्रदान कर अभिव्यंजित करना काव्य है।

क्रोचे के मत में दृश्य-जगत् की कोई सत्ता नहीं है। मन की ही एक प्रक्रिया दृश्य-जगत् को स्वरूप देती है और उसी की एक दूसरी प्रक्रिया उसका कलात्मक आकलन करती है। इस प्रकार समस्त काव्य-व्यापार मनोमय व्यापार ही है। मन में आई हुई दृश्य वस्तुओं की अनुभूति कई रूपों में हो सकती है। कभी-कभी तो ये दृश्य पदार्थ केवल इंद्रिय-संवेदना या 'सेन्सेशन' बनकर रह जाते हैं, और कभी इनके आधार पर कुछ बौद्धिक निर्णय और नियम आदि बनने लगते हैं। ये दोनों ही व्यापार काव्य-व्यापार नहीं हैं। दृश्य-वस्तुओं का इंद्रिय-संवेदन के रूप में प्रतिबिंबित होना मन की निष्क्रियता का द्योतक है। ऐसा निष्क्रिय मन काव्य-सृष्टि नहीं कर सकता। इसी प्रकार दृश्य-व्यापारों के आधार पर बौद्धिक निर्णय करना एक

दूसरे प्रकार की प्रक्रिया है जिससे काव्य-प्रक्रिया नितांत भिन्न है। मन की अत्यंत सक्रिय अवस्था में वस्तु-जगत् का जो प्रभाव उस पर प्रतिबिंब रूप में पड़ता है, उसी की अभिव्यंजना कविता और कलाओं में होती है।

काव्य तथा कलाएँ विशुद्ध मानसिक व्यापार हैं। क्रोचे के मत में यह आवश्यक नहीं कि उक्त मानसिक व्यापार को शब्दों या रेखाओं में बाँधा ही जाय। काव्यगत अभिव्यंजना वहीं पूर्ण हो जाती है, जहाँ सृजनात्मक सक्रिय मन उनकी अनुभूति कर लेता है। Intuition ही Expression है, अर्थात् अनुभूति ही अभिव्यंजना है। शब्द और रेखाएँ आदि उनके स्थूल संकेत-मात्र हैं। अतएव क्रोचे की सम्मति में काव्य का शब्द-बद्ध होना तथा चित्रकला का रेखाओं में बँधकर उपस्थित किया जाना आवश्यक नहीं है। यह बाह्य व्यक्तीकरण का कार्य वास्तविक कवि-कर्म से स्वतंत्र है।

क्रोचे के मत में काव्य तथा कलाओं का व्यापार एक अखंड व्यापार है। उसके भेदोपभेद नहीं किये जा सकते। समस्त कला एक ही अखंड अभिव्यंजना है। इस दृष्टि से खंडकाव्य, प्रगीत, महाकाव्य तथा चित्रकला और अन्य कलाओं आदि के विभाजन ऊपरी ही सिद्ध होते हैं; वे मौलिक विभाग नहीं हैं। वह मानसिक प्रक्रिया, जो कलाओं की सृष्टि करती है, सर्वत्र और सब काल में एक है। कलाएँ या तो विशुद्ध और परिपूर्ण होंगी या वे कला की संज्ञा के अयोग्य होंगी। दोनों की मध्यवर्ती कोई स्थिति नहीं है।

क्रोचे के इस निरूपण पर अनेक आक्षेप और आरोप किये गये हैं। सबसे पहला आक्षेप यह है कि क्रोचे काव्य को कवि की जिस आध्यात्मिक प्रक्रिया का परिणाम मानता है, उसका सम्बन्ध काव्य के श्रोताओं तथा पाठकों आदि से बिलकुल

नहीं रखा गया। क्रोचे के मत में तो काव्य का शब्द-रूप में व्यक्त होना भी आवश्यक नहीं। ऐसी स्थिति में काव्य के सार्वजनिक वस्तु होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसका उत्तर यह है कि काव्य तथा कलाएँ यद्यपि मानसिक सृष्टियाँ हैं, परन्तु कवि जिस मानसिक क्रिया से कलाओं की सृष्टि करता है, वह मानसिक क्रिया व्यक्तिगत नहीं है, उसका आस्वादन मानव-मात्र कर सकते हैं। रही यह बात कि जब तक काव्य शब्द-रूप में उपस्थित नहीं होता, तब तक उसका आस्वादन कैसे किया जाय? इसके उत्तर में क्रोचे का कथन है कि हमें कवियों का अनुगृहीत होना चाहिए कि वे अपनी मानसिक कला-सृष्टि को शब्दों में बाँधने का प्रयत्न भी करते आये हैं। इस दृष्टि से कला-व्यापार को सार्वजनिक उपयोग की वस्तु भी बनाया है। परन्तु तत्त्वतः कवि इस कार्य के लिए बाध्य नहीं।

दूसरा आक्षेप यह किया जाता है कि कविता यदि मन की सक्रिय अवस्था में अनुभूतियों के प्रकाशन का व्यापार है, तो उक्त व्यापार के सुन्दर या असुन्दर होने का, कला के श्रेणी-विभाग का, प्रश्न कैसे उठ सकता है? कोई काव्य समाज की नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है या नहीं, इसका भी निर्णय कैसे होगा? इस आक्षेप के उत्तर में कहा जा सकता है कि क्रोचे के मत में कला की श्रेणियाँ नहीं हैं। सुन्दर और असुन्दर का प्रश्न वहाँ आता ही नहीं, क्योंकि कलामात्र सौंदर्य की ही वस्तु है। क्रोचे के मत में कला ही सौंदर्य है। सौंदर्य के अभाव में कला का अस्तित्व ही नहीं। नैतिकता के प्रश्न पर क्रोचे का कथन है कि कला से नीतिवाद का कोई सम्बन्ध नहीं दोनों ही दो पृथक् वस्तु-समुच्चय हैं। यह बात दूसरी है कि कलाओं तथा काव्य से लोककल्याण का कार्य भी सिद्ध होता

आया है और उनसे समाज में नैतिक आदर्शों को भी बल मिला है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि काव्य तथा कलाएँ नैतिक मापदंड से नापी जा सकती हैं।

क्रोचे के सिद्धांत के सम्बन्ध में अन्तिम आक्षेप यह है कि उसने काव्य-व्यापार का निरूपण करते हुए जीवन और जगत् से उनका सम्बन्ध स्थापित नहीं किया। मन की सक्रिय आध्यात्मिक चेष्टा ही काव्य का सृजन करती है—इस कथन में बाह्य जगत् और उसके अनेक सम्बन्धों का कहीं भी उल्लेख नहीं है। इसके उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि क्रोचे बाह्य जगत् और जीवन की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं मानता। उसके मत में जगत् भी मानसिक वृत्ति का ही प्रतिबिंब है। दूसरे शब्दों में क्रोचे मन को सर्वसमर्थ और एकमात्र व्यापक सत्ता मानता है। जीवन और जगत् के समस्त स्वरूप मन में ही समाहित हैं।

क्रोचे की दृष्टि में जीवन-सम्बन्धी और काव्य-सम्बन्धी अनुभूति दो पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं। जीवन की अनुभूति ही काव्य-अनुभूति का स्वरूप धारण करती है। जिस कवि की जीवनानुभूति जितनी विशद और तीव्र होगी, उसकी काव्य रचना भी उतनी ही प्रशस्त और मार्मिक होगी। अतएव यह कहना संगत नहीं कि क्रोचे के मत में काव्य और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध प्रदर्शित नहीं है।

———

# अशोक के फूल

[ आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ]

अशोक में फिर फूल आ गये। इन छोटे-छोटे लाल-लाल पुष्पों के मनोहर स्तवकों में कैसा मोहन भाव है। बहुत सोच-समझकर कन्दर्पदेवता ने लाखों मनोहर पुष्पों को छोड़कर सिर्फ पाँच को ही अपने तूणीर में स्थान देने योग्य समझा था। एक यह अशोक ही है।

लेकिन पुष्पित अशोक को देखकर मेरा मन उदास हो जाता है। इसलिए नहीं कि सुन्दर वस्तुओं को हतभाग्य समझने में मुझे कोई विशेष रस मिलता है। कुछ लोगों को मिलता है। वे बहुत दूरदर्शी होते हैं। जो भी सामने पड़ गया, उसके जीवन के अंतिम मुहूर्त्त तक का हिसाब वे लगा लेते हैं। मेरी दृष्टि इतनी दूर तक नहीं जाती। फिर भी मेरा मन इस फूल को देखकर उदास हो जाता है। असली कारण तो मेरे अंतर्यामी ही जानते होंगे। कुछ थोड़ा-सा मैं भी अनुमान कर सका हूँ। उसे बताता हूँ।

भारतीय साहित्य में—और इसी लिए जीवन में भी, इस पुष्प का प्रवेश और निर्गम दोनों ही विचित्र नाटकीय व्यापार हैं। ऐसा तो कोई नहीं कह सकेगा कि कालिदास के पूर्व भारतवर्ष में इस पुष्प का कोई नाम ही नहीं जानता था; परन्तु कालिदास के काव्यों में यह जिस शोभा और सौकुमार्य का भार लेकर प्रवेश करता है, वह पहले कहाँ था! उस प्रवेश में नववधू के गृह-प्रवेश की भाँति शोभा है, गरिमा है, पवित्रता

है और सुकुमारता है। फिर एकाएक मुसलमानी सल्तनत की प्रतिष्ठा के साथ ही साथ यह मनोहर पुष्प साहित्य के सिंहासन से चुपचाप उतार दिया गया। नाम तो लोग बाद में भी ले लेते थे; पर उसी प्रकार जिस प्रकार बुद्ध, विक्रमादित्य का। अशोक को जो सम्मान कालिदास से मिला वह अपूर्व था। सुन्दरियों के आसिंजनकारी नूपुरवाले चरणों के मृदु आघात से वह फूलता था, कोमल कपोलों पर कर्णावतंस के रूप में झूलता था और चंचल नील-अलकों की अचंचल शोभा को सौगुना बढ़ा देता था। वह महादेव के मन में क्षोभ पैदा करता था, मर्यादा-पुरुषोत्तम के चित्त में सीता का भ्रम पैदा करता था और मनोजन्मा देवता के एक इशारे पर कंधे पर से ही फूट उठता था। अशोक किसी कुशल अभिनेता के समान भम-से रंगमंच पर आता है और दर्शकों को अभिभूत करके खप-से निकल जाता है। क्यों ऐसा हुआ? कंदर्प-देवता के अन्य बाणों की कदर तो आज भी कवियों की दुनिया में ज्यों की त्यों है। अरविन्द को किसने भुलाया? आम कहाँ छोड़ा गया और नीलोत्पल की माया को कौन काट सका? नवमल्लिका की अवश्य ही अब विशेष पूछ नहीं है; किन्तु उसकी इससे अधिक कदर कभी थी भी नहीं। भुलाया गया है अशोक। मेरा मन उमड़-घुमड़कर भारतीय रस-साधना के पिछले हजार वर्षों पर बरस जाना चाहता है। क्या यह मनोहर पुष्प भुलाने की चीज थी? न, मेरा मन यह सब मानने को तैयार नहीं है। जले पर नमक तो यह कि एक तरंगायित पत्रवाले निफूले पेड़ को सारे उत्तर भारत में अशोक कहा जाने लगा! याद भी किया तो अपमान करके!

लेकिन मेरे मानने न मानने से होता क्या है? ईसवी सन् के आरंभ के आसपास अशोक का शानदार पुष्प भार-

तीय धर्म, साहित्य और शिल्प में अद्भुत महिमा के साथ आया था। उसी समय शताब्दियों के परिचित यक्षों और गन्धर्वों ने भारतीय धर्म-साधना को एकदम नवीन रूप में बदल दिया था। पंडितों ने शायद ठीक ही सुझाया है कि गंधर्व और कंदर्प वस्तुतः एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न उच्चारण हैं। कन्दर्प-देवता ने यदि अशोक को चुना है तो यह निश्चित रूप से एक आर्येतर सभ्यता की देन है। इन आर्येतर जातियों के उपास्य वरुण थे, कुबेर थे, वज्रपाणि यक्षपति थे। कन्दर्प यद्यपि कामदेवता का नाम हो गया है, तथापि है वह गंधर्व का ही पर्याय। शिव से भिड़ने जाकर एक बार वह पिट चुके थे, विष्णु से डरते रहते थे और बुद्धदेव से भी टक्कर लेकर लौट आये थे; लेकिन कन्दर्प-देवता हार मानने-वाले जीव न थे। बार-बार हारने पर भी वह झुके नहीं। नये-नये अस्त्रों का प्रयोग करते रहे। अशोक शायद अंतिम अस्त्र था। बौद्धधर्म को इस नये अस्त्र से उन्होंने घायल कर दिया, शैव मार्ग को अभिभूत कर दिया और शक्ति-साधना को झुका दिया। वज्रयान इसका सबूत है, कौल-साधना इसका प्रमाण है और कापालिक मत इसका गवाह है।

रवीन्द्रनाथ ने इस भारतवर्ष को 'महामानवसमुद्र' कहा है। विचित्र देश है यह! असुर आये, आर्य आये, शक आये, हूण आये, नाग आये, यक्ष आये, गंधर्व आये—न जाने कितनी मानव जातियाँ यहाँ आईं और आज के भारतवर्ष के बनाने में अपना हाथ लगा गईं। जिसे हम हिन्दू रीति-नीति कहते हैं, वह अनेक आर्य और आर्येतर उपादानों का अद्भुत मिश्रण है। एक-एक पशु, एक-एक पक्षी न जाने कितनी स्मृतियों का सार लेकर हमारे सामने उपस्थित है। अशोक की भी अपनी स्मृति-परम्परा है। आम की भी है,

बकुल की भी है, चम्पे की भी है। क्या हमें सब मालूम है ? जितना मालूम है, उसी का अर्थ क्या स्पष्ट हो सका है ? न जाने किस बुरे मुहूर्त्त में मनोजन्मा देवता ने शिव पर बाण फेंका था। शरीर जलकर राख हो गया और वामन पुराण ( षष्ठ अध्याय ) की गवाही पर हमें मालूम है कि उनका रत्नमय धनुष टूटकर खंड-खंड हो धरती पर गिर गया। जहाँ मूठ थी, वह स्थान रुक्म-मणि से बना था। वह टूटकर धरती पर गिरा और चम्पे का फूल बन गया ! हीरे का बना हुआ जो नाह-स्थान था, वह टूटकर गिरा और मौलसिरी के मनोहर पुष्पों में बदल गया ! अच्छा ही हुआ। इन्द्रनील-मणियों का बना हुआ कोटि-देश भी टूट गया और सुन्दर पाटल-पुष्पों में परिवर्तित हो गया। यह भी बुरा नहीं हुआ। लेकिन सबसे सुन्दर बात यह हुई कि चन्द्रकांत-मणियों का बना हुआ मध्य-देश टूटकर चमेली बन गया और विद्रुम की बनी निम्नतर कोटि बेला बन गई। स्वर्ग को जीतनेवाला कठोर धनुष जो धरती पर गिरा तो कोमल फूलों में बदल गया। स्वर्गीय वस्तुएँ धरती से मिले बिना मनोहर नहीं होतीं !

परन्तु मैं दूसरी बात सोच रहा हूँ। इस कथा का रहस्य क्या है ? यह क्या पुराणकार की सुकुमार कल्पना है या सचमुच ये फूल भारतीय संसार में गन्धर्वों की देन हैं ? एक निश्चित काल के पूर्व इन फूलों की चर्चा हमारे साहित्य में मिलती भी नहीं। सोम तो निश्चित रूप से गन्धर्वों से खरीदा जाता था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ की विधि में यह विधान सुरक्षित रह गया है। ये फूल भी क्या उन्हीं से मिले ?

कुछ बातें तो मेरे मस्तिष्क में बिना सोचे ही उपस्थित हो रही हैं। यक्षों और गन्धर्वों के देवता—कुबेर, सोम, अप्सराएँ—

यद्यपि बाद के ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी स्वीकृत हैं, तथापि पुराने साहित्य में ये अपदेवता के रूप में ही मिलते हैं। बौद्ध-साहित्य में तो बुद्धदेव को ये कई बार बाधा देते हुए बताये गये हैं। महाभारत में ऐसी अनेक कथाएँ आती हैं, जिनमें सन्तानार्थिनी स्त्रियाँ, वृक्षों के अपदेवता, यक्षों के पास सन्तान-कामिनी होकर जाया करती थीं। यक्ष और यक्षिणी साधारणतः विलासी और उर्वरता-जनक देवता समझे जाते थे। कुबेर तो अक्षय निधि के अधीश्वर भी हैं। 'यक्ष्मा' नामक रोग के साथ भी इन लोगों का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। भरहुत, बोधगया, सांची आदि में उत्कीर्ण मूर्त्तियों में सन्तानार्थिनी स्त्रियों का, यक्षों के सान्निध्य के लिए, वृक्षों के पास जाना अंकित है। इन वृक्षों के पास अंकित मूर्त्तियों की स्त्रियाँ प्रायः नग्न हैं, केवल कटिदेश में एक चौड़ी मेखला पहने हैं। अशोक इन वृक्षों में सर्वाधिक रहस्यमय है। सुन्दरियों के चरण-ताड़न से उसमें दोहद का संचार होता है और परवर्त्ती धर्मग्रन्थों से यह भी पता चलता है कि चैत्र शुक्ल अष्टमी को व्रत करने और अशोक की आठ पत्तियों के भक्षण से स्त्री की सन्तान-कामना फलवती होती है। अशोक-कल्प में बताया गया है कि अशोक के फूल दो प्रकार के होते हैं सफेद और लाल। सफेद तो तान्त्रिक क्रियाओं में सिद्धिप्रद समझकर व्यवहृत होता है और लाल स्मरवर्धक होता है। इन सारी बातों का रहस्य क्या है? मेरा मन प्राचीन काल के कुज्झटिकाच्छन्न आकाश में दूर तक उड़ना चाहता है। हाय, पंख कहाँ हैं?

यह मुझे बहुत प्राचीन युग की बात मालूम होती है। आर्यों का लिखा हुआ साहित्य ही हमारे पास बचा है। उसमें सब कुछ आर्य दृष्टिकोण से ही देखा गया है। आर्यों से अनेक जातियों का संघर्ष हुआ। कुछ ने उनकी अधीनता नहीं मानी,

कुछ ज्यादा गर्वीली थीं। संघर्ष खूब हुआ। पुराणों में इसके प्रमाण हैं। यह इतनी पुरानी बात है कि सभी संघर्षकारी शक्तियाँ देवयोनि-जात मान ली गईं। पहला संघर्ष असुरों से हुआ। यह बड़ी गर्वीली जाति थी। आर्यों का प्रभुत्व इसने नहीं माना। फिर दानवों, दैत्यों और राक्षसों से संघर्ष हुआ। गन्धर्वों और यक्षों से कोई संघर्ष नहीं हुआ। वे शायद शान्ति-प्रिय जातियाँ थीं। भरहुत, सांची, मथुरा आदि में प्राप्त यक्षिणी-मूर्त्तियों की गठन और बनावट देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये जातियाँ पहाड़ी थीं। हिमालय का प्रदेश ही गन्धर्व, यक्ष और अप्सराओं की निवासभूमि है। इनका समाज सम्भवतः उस स्तर पर था, जिसे आजकल के पंडित 'पुनालुअन सोसायटी' कहते हैं। शायद इससे भी अधिक आदिम। परन्तु वे नाच-गान में कुशल थे। यक्ष तो धनी भी थे। वे लोग वानरों और भालुओं की भाँति कृषिपूर्व-स्थिति में भी नहीं थे और राक्षसों और असुरों की भाँति व्यापार-वाणिज्यवाली स्थिति में भी नहीं। वे मणियों और रत्नों का संधान जानते थे, पृथ्वी के नीचे गड़ी हुई निधियों की जान-कारी रखते थे और अनायास धनी हो जाते थे। सम्भवतः इसी कारण उनमें विलासिता की मात्रा अधिक थी। परवर्त्ती काल में यह बहुत सुखी जाति मानी जाती थी। यक्ष और गन्धर्व एक ही श्रेणी के थे; परन्तु आर्थिक स्थिति दोनों की थोड़ी भिन्न थी। किस प्रकार कन्दर्प-देवता को अपनी गंधर्व-सेना के साथ इन्द्र का मुसाहिब बनना पड़ा, यह मनोरंजक कथा है। पर यहाँ सब पुरानी बातें क्यों रटी जायँ? प्रकृत यह है कि बहुत पुराने जमाने में आर्य लोगों को अनेक जातियों से निबटना पड़ा था। जो गर्वीली थीं, हार मानने को प्रस्तुत नहीं थीं, परवर्त्ती साहित्य में उनका स्मरण घृणा के

साथ किया गया और जो सहज ही मित्र बन गईं, उनके प्रति अवज्ञा और उपेक्षा का भाव नहीं रहा। असुर, राक्षस, दानव और दैत्य पहली श्रेणी में तथा यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध, विद्याधर, वानर, भालु आदि दूसरी श्रेणी में आते हैं। परवर्त्ती हिन्दू समाज इनमें सबको बड़ी अद्भुत शक्तियों का आश्रय मानता है, सब में देवता-बुद्धि का पोषण करता है।

अशोक वृक्ष की पूजा इन्हीं गन्धर्वों और यक्षों की देन है। प्राचीन साहित्य में इस वृक्ष की पूजा के उत्सवों का बड़ा सरस वर्णन मिलता है। असल पूजा अशोक की नहीं, बल्कि उसके अधिष्ठाता कन्दर्प-देवता की होती थी। इसे 'मदनोत्सव' कहते थे। महाराज भोज के 'सरस्वती-कण्ठाभरण' से जान पड़ता है कि यह उत्सव त्रयोदशी के दिन होता था। 'मालविकाग्निमित्र' और 'रत्नावली' में इस उत्सव का बड़ा सरस-मनोहर वर्णन मिलता है। मैं जब अशोक के लाल स्तबकों को देखता हूँ तो मुझे वह पुराना वातावरण प्रत्यक्ष दिखाई दे जाता है। राजघरानों में साधारणतः रानी ही अपने सनूपुर चरणों के आघात से इस रहस्यमय वृक्ष को पुष्पित किया करती थीं। कभी-कभी रानी अपने स्थान पर किसी अन्य सुन्दरी को भी नियुक्त कर दिया करती थीं। कोमल हाथों में अशोक-पल्लवों का कोमलतर गुच्छ आया, अलक्तक से रंजित नूपुरमय चरणों के मृदु आघात से अशोक का पाद-देश आहत हुआ—नीचे हलकी रुनझुन और ऊपर लाल फूलों का उल्लास! किसलयों और कुसुम-स्तबकों की मनोहर छाया के नीचे स्फटिक के आसन पर अपने प्रिय को बैठाकर सुन्दरियाँ अबीर, कुंकुम, चन्दन और पुष्प-संभार से पहले कन्दर्प-देवता की पूजा करती थीं और बाद में सुकुमार भंगिमा से पति के चरणों पर वसन्त पुष्पों की अंजलि बखेर देती थीं।

मैं सचमुच इस उत्सव को मादक मानता हूँ। अशोक के स्तबकों में वह मादकता आज भी है, पर कौन पूछता है? इन फूलों के साथ क्या मामूली स्मृति जुड़ी हुई है? भारतवर्ष का सुवर्ण-युग इस पुष्प के प्रत्येक दल में लहरा रहा है।

कहते हैं, दुनिया बड़ी भुलक्कड़ है। केवल उतना ही याद रखती है, जितने से उसका स्वार्थ सधता है! बाकी को फेंककर आगे बढ़ जाती है। शायद अशोक से उसका स्वार्थ नहीं सधा। क्यों उसे वह याद रखती? सारा संसार स्वार्थ का अखाड़ा ही तो है।

अशोक का वृक्ष जितना भी मनोहर हो, जितना भी रहस्यमय हो, जितना भी अलंकारमय हो, परन्तु है वह उस विशाल सामन्त-सभ्यता की परिष्कृत रुचि का प्रतीक, जो साधारण प्रजा के परिश्रमों पर पली थी, उसके रक्त के सा-सार कणों को खाकर बड़ी हुई थी और लाखों-करोड़ों की उपेक्षा के समृद्ध हुई थी। वे सामन्त उखड़ गये, साम्राज्य ढह गये और मदनोत्सव की धूमधाम भी मिट गई। सन्तान कामिनियों को गन्धर्वों से अधिक शक्तिशाली देवताओं का वरदान मिलने लगा—पीरों ने, भूत-भैरवों ने, काली-दुर्गा ने यक्षों की इज्जत घटा दी। दुनिया अपने रास्ते चली गई, अशोक पीछे छूट गया!

मुझे मानवजाति की दुर्दम निर्मम धारा के हजारों वर्ष का रूप साफ दिखाई दे रहा है। मनुष्य की जीवन-शक्ति बड़ी निर्मित है, वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। न जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों, उत्सवों और व्रतों को धोती-बहाती यह जीवन-धारा आगे बढ़ी है। संघर्षों से मनुष्य ने नई शक्ति पाई है। हमारे सामने समाज का आज जो रूप है, वह न जाने कितने ग्रहण

और त्याग का रूप है, देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बात-की-बात है। सब कुछ में मिलावट है, सब कुछ अविशुद्ध है। शुद्ध है केवल मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा ( जीने की इच्छा )। यह गंगा की अबाधित-अनाहत धारा के समान सब कुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है। सभ्यता और संस्कृति का मोह क्षण भर बाधा उपस्थित करता है, धर्माचार का संस्कार थोड़ी देर तक इस धारा से टक्कर लेता है, पर इस दुर्दम धारा में सब कुछ बह जाते हैं। जितना कुछ इस जीवन-शक्ति को समर्थ बनाता है, उतना उसका अंग बन जाता है, बाकी फेंक दिया जाता है। धन्य हो महाकाल, तुमने कितनी बार मदन-देवता का खण्डन किया है, धर्मराज ने कारागार में क्रान्ति मचाई है, यमराज के निर्दय तारल्य को पी लिया है, विधाता के सर्वकर्तृत्व के अभिमान को चूर्ण किया है। आज हमारे भीतर जो मोह है, संस्कृति और कला के नाम पर जो आसक्ति है, धर्माचार और सत्यनिष्ठा के नाम पर जो जड़िमा है, उसमें का कितना भाग तुम्हारे कुण्ठनृत्य से ध्वस्त हो जायगा, कौन जानता है ? मनुष्य की जीवनधारा फिर भी अपनी मस्तानी चाल से चलती जायगी। आज अशोक के पुष्प-स्तबकों को देखकर मेरा मन उदास हो गया है, कल न जाने किस वस्तु को देखकर किस सहृदय के हृदय में उदासी की रेखा खेल उठेगी ! जिन बातों को मैं अत्यन्त मूल्यवान समझ रहा हूँ और उनके प्रचार के लिए चिल्ला-चिल्लाकर गला सुखा रहा हूँ, उनमें कितनी जियेंगी और कितनी बह जायँगी, कौन जानता है ! मैं क्या शोक से उदास हुआ हूँ ? माया काटे कटती नहीं। उस युग के साहित्य और शिल्प मन को मसले दे रहे हैं। अशोक के फूल ही नहीं, किसलय भी हृदय को कुरेद

रहे हैं। कालिदास-जैसे कल्पकवि ने अशोक के पुष्पों को ही नहीं, किसलयों को भी मदमत्त करनेवाला बताया था—अवश्य ही शर्त यह थी कि वह दयिता ( प्रिया ) के कानों में झूम रहा हो—'किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिता-श्रवणार्पितः'—परन्तु शाखाग्रों में लम्बित वायुलुलित किसलयों में भी मादकता है। मेरी नस-नस में आज करुण उल्लास की झंझा उत्थित हो रही है। सचमुच उदास हूँ।

आज जिसे हम बहुमूल्य संस्कृति मान रहे हैं, वह क्या ऐसी ही बनी रहेगी? सम्राटों और सामन्तों ने जिस आचार-निष्ठा को इतना मोहक और मादक रूप दिया था, वह लुप्त हो गई, धर्माचारियों ने जिस ज्ञान और वैराग्य को इतना महार्घ समझा था, वह समाप्त हो गया, मध्ययुग के मुसलमान रईसों के अनुकरण पर जो रस-राशि उमड़ी थी, वह वाष्प की भाँति उड़ गई, तो क्या यह मध्य-युग के कंकाल में लिखा हुआ व्यावसायिक युग का कमल ऐसा ही बना रहेगा? महाकाल के प्रत्येक पदाघात से धरती धसकेगी। उनके कुंठनृत्य की प्रत्येक चारिका कुछ न कुछ लपेटकर ले जायगी। सब बदलेगा, सब विकृत होगा—सब नवीन बनेगा।

भगवान् बुद्ध ने मार-विजय के बाद वैरागियों की पलटन खड़ी की थी। असल में 'मार' मदन का ही नामान्तर है। कैसा मधुर और मोहक साहित्य उन्होंने दिया। पर न जाने कब यक्षों के वज्रपाणि नामक देवता इस वैराग्य-प्रवण धर्म में घुसे और बोधिसत्वों के शिरोमणि बन गये। फिर वज्रयान का अपूर्व धर्ममार्ग प्रचलित हुआ। त्रिरत्नों में मदन-देवता ने आसन पाया। वह एक अजीब आँधी थी। इसमें बौद्ध बह गये। उन दिनों 'श्रीसुन्दरीसाधनतत्पराणां योगश्च भोगश्च करस्थ एव' की महिमा प्रतिष्ठित हुई। काव्य और शिल्प

के मोहक अशोक ने अभिचार में सहायता दी। मैं अचरज से इस योग और भोग की मिलन-लीला को देख रहा हूँ। यह भी क्या जीवन-शक्ति का दुर्दम अभियान था! कौन बतायेगा कि कितने विध्वंस के बाद इस अपूर्व धर्म-मत की सृष्टि हुई थी? अशोक-स्तबक का हर फूल और हर दल इस विचित्र परिणति की परम्परा ढोये जा रहा है। कैसा झबरा-सा गुल्म है!

मगर उदास होना भी बेकार ही है। अशोक आज भी उसी मौज में है, जिसमें आज से दो हजार वर्ष पहले था। कहीं भी तो कुछ नहीं बिगड़ा है, कुछ भी तो नहीं बदला है। बदली है मनुष्य की प्रवृत्ति। यदि बदले बिना वह आगे बढ़ सकती तो शायद वह भी नहीं बदलती। और यदि वह न बदलती और व्यावसायिक संघर्ष आरम्भ हो जाता—मशीन का रथ घर्घर चल पड़ता—विज्ञान का सवेग धावन चल निकलता तो बड़ा बुरा होता। हम पिस जाते। अच्छा हुआ जो वह बदल गई। पूरी कहाँ बदली है? पर बदल तो रही है। अशोक का फूल तो उसी मस्ती से हँस रहा है पुराने चित्त से इसको देखनेवाला उदास होता है। वह अपने को पण्डित समझता है। पण्डिताई भी एक बोझ है—जितनी भी भारी होती है, उतनी ही तेजी से डुबाती है। जब वह जीवन का अंग बन जाती है तो सहज हो जाती है। तब वह बोझ नहीं रहती। वह उस अवस्था में उदास भी नहीं करती। कहाँ, अशोक का कुछ भी तो नहीं बिगड़ा है। कितनी मस्ती से झूम रहा है। कालिदास इसका रस ले सके थे अपने ढंग से। मैं भी ले सकता हूँ, पर अपने ढंग से। उदास होना बेकार है!

# बहस की बात

[ सियारामशरण गुप्त ]

बहुत गम्भीर समस्या थी। एक सज्जन कह रहे थे—यह घर पूर्व दिशा में है। दूसरे सज्जन का कहना था—ऐसा हो नहीं सकता। अपने गले के जोर से उस घर को उठाकर ठेठ पश्चिम में रख देने की इच्छा उनकी थी। एक अंग्रेज कवि के पूर्व और पश्चिम की तरह इन दोनों का यह दिक्-विपर्यय किसी एक दूसरे से मिलना ही न चाहता था। अपने मध्य-केन्द्र को बहुत पीछे छोड़कर बात गरमा-गरमी और तेजी से आगे बढ़ रही थी। ऐसी स्थिति में एक का मुक्का और दूसरे का सिर तो आपस में मिल सकता था, परन्तु उनके मत नहीं। वे दक्षिणी और उत्तरी ध्रुव की अपेक्षा भी दूर होते जा रहे थे। ऐसे विकट प्रसंग में उस घर का प्राण-संकट टालकर एक तीसरे सज्जन ने बताया कि यह घर आपके यहाँ से पूर्व है और आपके यहाँ से पश्चिम। अतएव सही हैं तो आप दोनों और गलत हैं तो आप दोनों। परिणाम यह हुआ कि इस तरह न तो पूर्व को पश्चिम में जाना पड़ा और न पश्चिम को पूर्व में। चरम परिपाक के बिना ही वह बहस यहीं शान्त हो गई—कम से कम ऊपर से तो हो ही गई।

डर मुझे यह है कि अपने पाठक को मैंने नाराज कर दिया। मैं झूठ बोला इसकी तो कोई बात नहीं। झूठ बोलना तक मुझे नहीं आया, इसकी शिकायत अवश्य की जायगी। बहस कभी बिना बात की बात पर चल पड़ती है, यह मान लिया जायगा; परन्तु क्या ऐसा भी कोई हो सकता है, जो पूर्व

और पश्चिम जैसे स्वयं प्रकाशित विषय को लेकर मरने-मारने को तैयार था—इस पर फिर एक नई बहस उठ खड़ी होगी। उठ खड़ी हो, मैं अपनी बात से पीछे हटना नहीं चाहता।

यह ठीक है कि पूर्व और पश्चिम का भेद सुस्पष्ट करने के लिए किसी ने दिन में ही सूर्य की यह मसाल जला रक्खी है। पर इसी के साथ उतना ही ठीक क्या यह नहीं है कि उसी ने इस मशाल की पीठ पर अन्धकार भी प्रतिष्ठित कर रक्खा है? दिन हो तो उसके साथ रात है और रात हो तो उसके साथ दिन। उत्तर है तो दक्षिण भी होगा। इस तरह दो का यह उत्तर-प्रत्युत्तर, यह तर्क-वितर्क, अनादि काल से चला आता है। तब फिर पूर्व और पश्चिम के लिए पूर्वोक्त सज्जनों का इस प्रकार झगड़ पड़ना कुछ अनहोनी बात नहीं। देखा जाय तो हममें कदाचित् ही कोई निकले जो इस पूर्व और पश्चिम के झगड़े में ठीक इसी प्रकार लिप्त न हो। यह दूसरी बात है कि अपनी भिन्न-भिन्न बोलियों में इन्हें हम और कुछ कहते हों। मिट्टी हो, कंकड़ हो, पत्थर हो, कुछ क्यों न हो—इसके विग्रह की प्राणप्रतिष्ठा उसी में कर दी जाती है। कैसे की जाती है, यह बताने के लिए अनेक आचार्यों ने बड़े-बड़े ग्रन्थ रच डाले हैं। इसकी शिक्षा के लिए हमारे विश्वविद्यालय भी कम सक्रिय नहीं। इस अचिर जीवन का केवल आधा ही लेकर अपने प्रमाण-पत्र के साथ वे हमें छुट्टी दे देते हैं कि अब तुम किसी भी राज-दरबार में जाकर पूर्व को पश्चिम घोषित कर सकते हो और पश्चिम को पूर्व। न्यायालयों में जितने मामले पहुँचते हैं, उनमें अधिकांश इन सम्मुख-विरोधी दो दिशाओं के विवाद के ही नये नये आदर्श अथवा साँचे हैं।

न्यायालय ही नहीं, हमारा यह महाभारत रात-दिन सर्वत्र

चला करता है। इसके लिए अठारह अक्षौहिणी की आवश्यकता नहीं पड़ती। एक और एक दो, बस इतनी ही संख्या पर्याप्त है। कोई दूसरा न हो तो अकेले अपने आप भी हम यह कसरत कर सकते हैं; परन्तु रूखी रोटी की तरह अकेले-अकेले की यह कसरत हमारे मानसिक आहार में अनाहार से अधिक नहीं। कदाचित् इसी कारण काल कोठरी की सजा वर्तमान समय की एक बहुत बड़ी सजा है। तो हाँ, जहाँ हम दो एकत्र हुए, एक कहता है—"यह बात ऐसी है" दूसरा तुरन्त उत्तर देता है—"नहीं, यह बात ऐसी हो नहीं सकती।" दूसरे का यह उत्तर इतना स्वाभाविक, अतः तर्कसंगत है कि प्रसंग को कुछ जाने-समझे बिना हम भी उसे अपना मत दे सकते हैं। भला बताइए, वैसा हो कैसे सकता है जब कि वैसा हो सकने की बात पहले ही कोई कह चुका हो!

यह तर्क या बहस प्रारंभ हुई नहीं कि एक बड़ा जन-समूह तुरन्त हमारे आस-पास इकट्ठा हो जाता है। किसके पैर में कितनी तेजी है, इसके निर्णय का एकमात्र समय यही है। इसके आगे की बात शिष्ट पाठक को सहन न होगी, इसी से अस्पृश्य समझकर यहीं छोड़ी जाती है।

परन्तु इस तर्क-प्रसंग को मेरे अस्पृश्य समझ लेने से इसका कुछ नहीं बिगड़ता। संसार के अधिकांश युद्धों का उद्गम इसी के भीतर मिलेगा। वे होते ही रहते हैं। वहाँ आरंभ में एक कहता है—"ऐसा" दूसरा तुरन्त उत्तर देता है—"ऐसा हर्गिज नहीं!" बस इसी के बाद सेना, सैनिक, सेनापति और उनकी तलवार, तोप और गोले। संसार के इतिहास का सबसे रोचक अध्याय यही है।

तो हाँ, जब किसी एक को अस्पृश्य कहकर छोड़ दिया गया है, तब किसी दूसरे को ब्राह्मण कहना ही पड़ेगा, किंतु

बहुत शुद्धाचारी और तपस्वी होने के कारण यह ब्राह्मण तर्क सबके लिए ग्राह्य नहीं जान पड़ता। बात करने भी बैठे और डरते भी रहे कि कहीं किसी को चोट न लग जाय तो भला यह भी कोई बात हुई। सच पूछो तो तर्क जन्म से ही क्षत्रिय है। इसका काम ही मारना, मरना और फिर-फिर जी उठना है। इक्कीस-इक्कीस बार इसे निर्वंश ही क्यों न कर दो, फिर भी जब देखो, तब इसका वही तेज। साहित्यिक ने व्यंग्य और व्यञ्जना के आवरण में कोमल करके इसे वैश्य वर्ण में लाने का यत्न किया है; परंतु वहाँ भी इसका जन्मगत जातीय गुण देर तक छिपा नहीं रहता।

पर अब कुछ सावधानी की आवश्यकता है, नहीं तो आरोप किया जायगा कि लेखक को बहस में मुँह की खानी पड़ी है, इसी से छिपे-छिपे वह तर्क की निंदा कर रहा है। इस पर मेरा कहना यह है कि जीभ राम का नाम लेने में ही हार सकती है, बहस अथवा तर्क करने में नहीं।

वास्तव में जीभ की महिमा है ऐसी ही। विधाता में हमें आँख, कान, हाथ, पैर ये सब दो-दो की संख्या में दिये हैं। तब प्रश्न उठता है, जीभ ही उसने हमें एक क्यों दी? नाक भी उसने एक ही दी थी। जान पड़ता है, बाद में उसे इसमें अपनी भूल मालूम हुई। इसी से उसके बीचों-बीच उसने एक दीवार खड़ी करके एक को दो में बदल दिया है। चाहता तो वह जीभ के लिए भी किसी ऐसे ही संशोधन का प्रबन्ध कर सकता था; परन्तु उसने ऐसा किया नहीं। मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी पर भी यह प्रयोग करने की आवश्यकता उसने नहीं समझी। तब यह क्यों न माना जाय कि जीभ के एक रखने

में उसका कुछ विशेष हेतु था ? इसे उसकी कोरी भूल समझने से काम न चलेगा।

निश्चय ही जीभ का दो होना ठीक न होता। इस समय साँप के द्विजिह्व होने की बात कहकर मैं अपना समर्थन नहीं करना चाहता। यह कहकर भी नहीं कि उस अवस्था में खाद्य पदार्थ और भी दुर्लभ हो जाते। मैं जो कहना चाहता हूँ, वह यह है कि जीभ के संख्या में दो होने पर तर्क अथवा बहस करने के लिए किसी को किसी अन्य की आवश्यकता न रहती। उस समय कोई भी हिमालय की निर्जन कन्दराओं में जाकर किसी दूसरे की सहायता के बिना ही अपना काम चला लेता। मनुष्य की एक जीभ कहती—"मीठा"। दूसरी तुरन्त प्रत्युत्तर करती—"नहीं, कडुआ !" इस प्रकार अपने आप में ही आनन्द-रस के दोनों स्वाद पाकर मनुष्य में जिस अनपेक्षित स्वार्थपरता का उदय होता, उससे क्या हमारे इस बहु विचित्र संसार के असंख्य ही टुकड़े न हो जाते ? दूसरों का हित करने के लिए उस समय न तो हमें किसी सभा में उपस्थित होने की आवश्यकता पड़ती और न किसी दूसरे का ग्रन्थ पढ़कर उसकी समालोचना लिखने की। न प्रजा के चीत्कार का अस्तित्व होता, न राजा की एकान्त कालकोठरी का। सचमुच ही यह बहुत बुरा होता। इसी सब के कारण तो हमारा कर्म-मुखरित संसार इतना प्रिय और मधुर है !

तर्क अथवा बहस ही वह वस्तु है, जो हमारे मन में, अनजाने ही सही, यह बोध उत्पन्न करती है कि हमें छोड़कर भी किसी और को होना चाहिए। यह और कोई ऐसा है, जिसके बिना हमारा जीवन नीरस हो जाता। ऊपर से उस पर हम प्रहार ही क्यों न करें, भीतर से प्यार तो उसे करते

ही हैं। मनुष्य में वाणी ही उसका सबसे बड़ा वैभव है। आँख, वह हमसे अधिक गीध में है। कान घोड़े और गधे के भी हमसे बहुत बड़े हैं। कुत्ते की घ्राण शक्ति की बराबरी तो हम कर ही नहीं सकते। दौड़ने की बात आती है, तब मृग का पशुत्व भूलकर, उसी की काल्पनिक समता में गौरव का अनुभव करना पड़ता है। जो बात कहीं दूसरे में नहीं मिलती, वह है हमारी वाणी। अतएव जब हम किसी की बात सुनते हैं तो स्वभावतः हमें यह अनुभूति होती है कि यह अपने उसी बड़प्पन की घोषणा कर रहा है। उसका महत्त्व खंडित करके अपना महत्त्व स्थापित कर देना ही बहस की मनोवृत्ति का कारण है। इसका काम है, महत्त्वाकांक्षा की वृद्धि करके हमें और भी बड़ा कर देना। बैलों में जब यह वृत्ति पैदा होती है तो वे सींग चला देने के सिवा किसी दूसरे ढंग की बहस नहीं करते। मनुष्य की जीभ बिना सींग के सींग तो चला ही लेती है, और भी उसके लिए बहुत-सी बातें आसान हैं। सच पूछो तो दूसरे प्राणियों को विधाता का जिह्वा-दान उसके बड़े से बड़े अपव्ययों में से एक है।

परन्तु अब और कुछ लिखने को जी नहीं करता। जीभ की स्तुति जीभ चलाकर ही की जा सकती है, लेखनी चलाकर नहीं। इन बातों को काटकर कुछ कहनेवाला कोई दूसरा होता तब भी कुछ बात थी। यदि किसी दूसरे ने यह सब कहा होता तो वह कठिन काम मैं स्वयं स्वीकार कर लेता। पर अब तो बाहर जाकर ही जीभ की यह प्यास मिट सकेगी। मैंने जिसे पूर्व कह दिया है, उसे पूर्व ही कहता जाऊँ, तब यह असम्भव है कि उसे पश्चिम कहनेवाला कोई न मिल सके। हम दो के बीच में भी कोई ऐसा आ पड़ा, जो मेरे पूर्व को पूर्व ही रहने

दे और दूसरे के पश्चिम को पश्चिम, तो भी हानि नहीं है। चतुर माली द्वारा कुछ काट-छीलकर एक में बाँधी गई भिन्न-भिन्न वृक्षों की दो शाखाएँ एकरस हो सकती हैं और हो जाती हैं; पर मेरे में मेरा फूल खिलेगा, दूसरे में दूसरे का। इसमें अन्तर आना असम्भव है।

—

# शरच्चन्द्र

## ( दैनन्दिनी से )

[ श्री सुन्दरलाल त्रिपाठी ]

रायपुर ( मध्यप्रदेश ),
३१ मार्च; १६३८

लगभग डेढ़ मास से मैं केवल शरच्चन्द्र का लेखन श्रद्धा से विगलित अपनी मानसिक गति से पढ़ और चिन्तन कर रहा हूँ। उनका जो भी लेखन मैं आज तक प्राप्त कर सका हूँ, सब का पारायण मेरा आज सम्पन्न हुआ है। अपने अध्ययन के द्वारा मैं कृतकृत्य हुआ हूँ और व्रतोद्यापन की वृत्ति से अपराजेय कथाशिल्पी के प्रति स्मृति-तर्पण करना चाहता हूँ। ब्रह्ममुहूर्त से उठकर दिन भर केवल अपनी एक चिन्ता, केवल अपने व्रतानुष्ठान और केवल अपनी उद्यापना-पूजा में मैं निरत रहा हूँ। मेरा ऐकान्तिक कार्य-कलाप आज का यही है।—मेरे मन के, प्राण के और मस्तिष्क के तन्तु तन्तु में केवल आज शरच्चन्द्र के अविनश्वर साम्राज्य की छत्र-छाया की शीतलता एवं उसका सुख विद्यमान् है। मैं अपने उद्यापन का अनुष्ठान करूँ—

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, बाबू राजेन्द्रप्रसाद, सी० एफ० एण्ड्रूज, श्री वी० गोपाल रेड्डी (मद्रास के मंत्री), बङ्गाल-सरकार के अर्थसचिव श्री नलिनीरञ्जन सरकार, राष्ट्रपति श्री सुभाषचन्द्र बोस बंगाल के गवर्नर-लार्ड ब्राबोर्न आदि शत-सहस्र प्रमुख व्यक्तियों और प्रतिष्ठानों ने पत्र लिखकर तथा शरद्-

वासर मनाकर अपनी अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित की हैं। कोई साहित्यिक शरच्चन्द्र के समान अल्प समय में इतने बड़े यश और सम्मान का अधिकारी नहीं हुआ। शरत् बाबू की मृत्यु से सारे देश के मर्मस्थल में जो वेदना-बोध जाग्रत हुआ, वह भारतवर्ष के इतिहास में अत्यन्त विरल है।

विशिष्ट जनगण-वन्दित भाषा में शरत्चन्द्र ने जीवन के आनन्द और उसकी वेदना को एकान्त सहानुभूति के द्वारा चित्रित किया है। वे आधुनिक काल के प्रियतम लेखक थे।-... शरच्चन्द्र का हृदय मनुष्य के प्रति प्रेम एवं परिच्छन्न तथा सरल जीवन के प्रति एकाग्रता से परिपूर्ण था।.. शरच्चन्द्र बंगाल के तथा भारतवर्ष के अप्रतिद्वन्द्वी औपन्यासिक थे। वे उच्च शिक्षित जनगण तथा सरल ग्रामवासियों के सबसे अधिक प्रिय थे। उन्होंने पीड़ापूर्ण मर्म की भाषा में परिवर्तनशील जगत् की अग्रगति के साथ साथ मनस्तत्त्व—मनुष्य-जाति की भाव-प्रवणता और अनुप्रेरणा का वास्तव चित्र अङ्कित करके अपने उपन्यासों की रचना की है। उनके श्रेष्ठ उपन्यासों में से 'चरित्रहीन' और 'श्रीकान्त' साहित्य-जगत् में अमूल्य रत्न हैं।...मनुष्य के प्रति उनमें असीम सहानुभूति और ममत्व-बोध था। दुःखी और निपीड़ितों की मर्मवेदना को वे प्राण देकर अनुभव करते थे। वास्तविक व्यक्तिगत जीवन में परस्पर का प्रतिनिबद्ध बन्धुत्व पारिपार्श्विकता की क्षुद्रता की अवहेलना करके कहाँ तक निभ सकता है, उसका निदर्शन शरच्चन्द्र के व्यवहार और चरित्र से प्राप्त होता था।... वे उदार, कोमल हृदय और आवेगमय थे। उनके अन्तर में सब प्रकार के अत्याचारों के प्रति अपरिसीम घृणा थी। हृत-सर्वस्व पददलितों के लिए उनके हृदय में सीमाहीन करुणा की स्रोतधारा प्रवाहित थी। जो प्रतिभा नर-नारियों की कामना-

वासना को शुद्धमात्र सौन्दर्य से पूर्ण कविता और गल्प में रूपान्तरित करके उसे पाषाण के समान चिरस्थायी कर रखती है, शरच्चन्द्र की प्रतिभा उस दल की नहीं है। उनकी लेखनी समाज-संस्कारक की लेखनी थी।...शरच्चन्द्र दरिद्र माता-पिता की सन्तान थे। आरम्भिक जीवन में अनेक बाधा-विघ्न और कष्ट के साथ उन्होंने संग्राम किया था। साहित्य-सृष्टि के द्वारा ही उनका परिचय प्राप्त हुआ। जिन सब लोगों को हम लोग भूलकर भी एक बार स्मरण नहीं करते, अपने कुसंस्कार, दुर्बलता और अपनी अक्षमता के कारण जिन सब व्यक्तियों को बराबर समाज के बाहर रखते आ रहे हैं, उन सब व्यक्तियों के प्रति उनमें अपरिसीम दया और सहानुभूति थी।...समाज के द्वारा जो वर्जित और उपद्रुत हैं, उनके प्रति समवेदना ही शरत्-साहित्य की सब से बड़ी प्रेरणा थी। एकाधार में वे आदर्श लेखक, आदर्श देश-प्रेमिक और सर्वोपरि आदर्श मानव थे।...आधुनिक जगत् में जो सब चिन्ताधारा प्रवहमान है, जिसका चरम मूल्य आज भी निर्धारित नहीं हुआ—शरच्चन्द्र के भीतर उन सब चिन्ताओं का समावेश था। उनकी उज्ज्वल अन्तर्भेदी दृष्टि प्रेम अथवा सहानुभूति से अश्रुसिक्त हो उठती थी। उन्होंने अपने अन्तर के ऐश्वर्यमय भावसम्पद् के द्वारा साहित्य की सृष्टि की है।...साहित्यिक के नाते ही केवल नहीं, मनुष्य के नाते भी वे बहुत बड़े थे। इतने बड़े होकर भी वे अत्यन्त सरल थे। उन्होंने कभी बताना नहीं चाहा कि वे एक बड़े साहित्यिक हैं। शरच्चन्द्र ने महत्तर सङ्गीत के द्वारा अपने जीवन को पूर्ण किया था।...जिस व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की वाणी का सम्पूर्ण विश्व में अनुरणन हो रहा है, जो विद्रोह-भाव प्रत्येक मनुष्य के मन में घुमड़ रहा है, जिस असन्तोष की पावक शिखा प्रति अन्तर में धूम्र विकीर्ण कर रही है,—उसकी

ही जीवन्त, ज्वलन्त प्रेरणा लेकर शरच्चन्द्र ने लेखनी धारण की थी।.. शरच्चन्द्र की चरित्र-सृष्टि और रसानुभूति के द्वारा सत्यरूप परिस्फुट हो उठा है।—वे दरदी कवि, अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न औपन्यासिक एवं अपूव रस-स्रष्टा थे।···शरच्चन्द्र के उपन्यास की विशेषता यही है कि वह एक अर्थ में वस्तुतन्त्र है।—वे युग-प्रकाशक और वर्तमान समाज-चित्र के सर्वश्रेष्ठ चित्रकार थे। उनके 'देहाती-समाज' में इसका प्रथम परिचय मिलता है। शरच्चन्द्र की सबसे बड़ी सृष्टि 'श्रीकान्त' तथा 'श्रीकान्त' के सखा, गुरु, सुहृद् 'इन्द्रनाथ' हैं। 'इन्द्रनाथ' शरत्-साहित्य की अपूर्व सृष्टि हैं। 'इन्द्रनाथ' में शरच्चन्द्र ने समाज के आधार और आवेष्टन के भीतर से बङ्गाल के नव-युग के विद्रोही यौवन को मूर्तिमान् कर दिया है। यह चित्र यद्यपि बङ्गाली धोती-चद्दर से सज्जित है, तथापि विश्वजनीन यौवन का चित्र है। ग्रीक शिल्पी जिस प्रकार पत्थर पर अपोलो-वेलवेडियर ( Apollo-velvedere ) का चित्र खोद कर विश्व-यौवन की देह चिर-दिन के लिए रख गया है, शरच्चन्द्र ने उसी प्रकार विश्वयौवन का मन बॅगला भाषा में परिस्फुट कर दिया है। अथच आश्चर्य है कि शरच्चन्द्र के इस उद्दाम यौवन के चित्र में असंयत यौन प्रकृति अथवा इन्द्रिय-लालसा नहीं परिस्फुट हुई। शरच्चन्द्र का नारी-चित्र अपूर्व वस्तु है;—शरच्चन्द्र की नायिकायें स्वत: अतिशय संयमी हैं। अपनी प्रकृति से रमणी संयमी है;—जो मा होकर विश्व के सृष्टि-प्रवाह की रक्षा करेगी, विधाता ने संयमी के रूप में ही उसका सृजन किया है। शरच्चन्द्र ने नारी-प्रकृति के इस विश्वजनीन धर्म को अपनी नायिकाओं में परिस्फुट करके क्या घर, क्या समाज और क्या अपने 'पथेरदावी' के विद्रोही विप्लव-पन्थियों के दल में, सर्वत्र पुरुषों पर नारी का

असाधारण प्रभाव प्रतिष्ठित किया है। उनकी सृष्टि में काम की अपेक्षा प्रेम अधिक परिस्फुट हुआ है।...शरच्चन्द्र वस्तु-तान्त्रिक थे। स्वीय जीवन में पृथ्वी की रूढ़ निर्ममता और कुत्सित कुश्रीता ने उनके अन्तर को पीड़ित किया है। इसी-लिए शरत्-साहित्य वास्तव की विशुद्ध छवि है। शरच्चन्द्र की प्रतिभा का एकमात्र परिचय उनकी गल्पों उनके उपन्यासों में है। शरच्चन्द्र संस्कारमुक्त विवेचक रक्षणशील हिन्दू थे। हिन्दुओं की शिक्षा और संस्कृति के प्रति वे आस्थावान् थे, किन्तु अन्याय लोकाचार या देशाचार निर्विरोध ग्रहण करने को उन्होंने किसी दिन धर्म नहीं माना। साहित्य-जीवन की सूचना में यथेष्ट अवहेला और अपवाद उन्होंने सहन किया, किन्तु जिसकी उन्होंने अन्तर में उपलब्धि की, उसे त्याग करना उनके स्वभाव के विरुद्ध था। शरच्चन्द्र का जीवन और साहित्य अविच्छेद्य था।—इसी जीवन की व्यक्तिगत अभिज्ञता का आत्मप्रकाश उनके साहित्य में है। बलिष्ठ आदर्शवाद और अनुकरणीय चरित्र-चित्रण शरत्-साहित्य का वैशिष्ट्य है। समाज में, संसार में, राष्ट्र में—अवहेलित, लाञ्छित, निष्पेषित नर-नारियों की व्यथा-वेदना शरच्चन्द्र की रचना में प्रतिध्वनित हुई है। स्वप्न नहीं, भाव-विलास नहीं—सहानुभूति, समवेदना का माधुर्य शरत्-साहित्य में परिपूर्ण है।...शरच्चन्द्र की समालोचना का अर्थ हमारा ही आत्मविश्लेषण, समाज-शक्ति का विकलन, उसका भविष्यत्-निरूपण एवं उसके साथ ही समाज और साहित्य का सम्बन्ध-विचार है।...शरत्-साहित्य में नर-नारी का कामगन्धहीन प्रेम न होने पर भी वैष्णव कवि की निविड़ता और तन्मयता है। इसी लिए उनके साहित्य में जिस नारी ने स्वामी छोड़ दिया है, उसने फिर चाहा है और जिसने प्रेम किया

है, उसने अपेक्षा में दिन काटे हैं। इस देन-लेन के खेल में निविड़ता है, किन्तु अपने परिकल्पित समाज-सौध को उन्होंने किसी असङ्गति के द्वारा कलङ्कित नहीं किया।...शरच्चन्द्र एकनिष्ठ साधक थे। उन्होंने कई बार कहा था—"मैं जो लिखता हूँ, यथेष्ट श्रम करके लिखता हूँ, आन्तरिकता से लिखता हूँ—उसकी अपेक्षा अच्छा लिखने की चेष्टा करके भी मैं लिख नहीं पाता। शरच्चन्द्र की 'निष्कृति', 'चन्द्रनाथ', 'श्रीकान्त', 'अरक्षणीया', 'देवदास' और 'विप्रदास' कौन बार-बार पढ़ना नहीं चाहेगा ? उनके 'श्रीकान्त' का अँगरेजी अनुवाद पढ़कर 'रोमा रालाँ,' ने कहा था कि वह 'नोबुल-प्राइज' पाने योग्य है। शरच्चन्द्र संसार में केवल एक बन्धन स्वीकार करते थे,—अपने व्यक्तिगत जीवन में उसे उन्होंने माना है—वह बन्धन अकृत्रिम प्रेम का बन्धन है। इस वस्तु के लिए वे सर्वस्व की अवहेलना कर सकते थे।...समाज के नियम और विधि-निषेध की निर्ममता जिस प्रकार क्षुब्ध और विह्वल होकर शरच्चन्द्र ने परिस्फुट की है, उस प्रकार कोई साहित्यिक परिस्फुट नहीं कर सका। उपन्यासशिल्पी शरच्चन्द्र में अपूर्व साहस था;—उन्होंने पापविद्ध और असुन्दर को त्याग और सहिष्णुता की अक्षत महिमा से मण्डित किया है, समाज-धर्म के ऊपर न्याय-धर्म को प्रतिष्ठित किया है,—उस न्याय-धर्म को, जिसके सम्मुखीन होकर प्रेम का मान-अभिमान, विरह-मिलन नितान्त क्षुद्र और लघु-चञ्चल दिखाई पड़ता है। महाप्राणशिल्पी शरच्चन्द्र ने घृणित और असुन्दर को जिस श्री और सम्पद् से अलकृत किया है, वह कल्प-सुन्दरी के चरण कमल में अम्लान आभा दान करेगा।

सन् १८७६ के १५ सितम्बर को हुगली जिले के देवानन्दपुर नामक ग्राम में साहित्याचार्य स्वर्गीय शरच्चन्द्र चट्टो

पाध्याय का जन्म हुआ था। शरच्चन्द्र के पिता श्री मोतीलाल चट्टोपाध्याय निष्ठावान् ब्राह्मण थे। उनके सात पुत्र और दो कन्यायें थीं। पुत्रों में शरच्चन्द्र ही सबसे बड़े थे। भाइयों में श्री प्रकाशचन्द्र चट्टोपाध्याय केवल जीवित हैं। शरच्चन्द्र बाल्यकाल में ही गाँव छोड़कर अपने पिता के साथ अपने दूर के एक मामा के घर में भागलपुर में जाकर रहने लगे थे। उन्होंने वहाँ के 'तेजनारायण-जुबिली-हाईस्कूल' में एण्ट्रेन्स की परीक्षा उत्तीर्ण की और वे हाईस्कूल से संयुक्त कालेज में ही एफ० ए० में पढ़ने लगे। किन्तु परीक्षा के पहले केवल बीस रुपये फीस न दे सकने के कारण उन्हें कालेज छोड़ना पड़ा। उस समय उन्होंने प्रतिज्ञा की कि चौदह वर्ष तक वे चौदह घण्टे प्रतिदिन विद्यार्जन करेंगे। इस प्रतिज्ञा का उन्होंने पालन किया। कालेज छोड़ने के थोड़े दिनों पश्चात् ही उनकी माता का देहावसान हो गया। उन्होंने सबसे पहले 'छाया' नामक हाथ से लिखे मासिक-पत्र में साहित्य-रचना की। शरच्चन्द्र ने उसके पश्चात् 'साहित्य-सभा' की सृष्टि की। 'साहित्य-सभा' में जिन्होंने योगदान दिया था, उनमें श्रीमती निरुपमादेवी विशेष उल्लेख-योग्य हैं। बाईस-तेईस वर्ष के वय में एक जमींदार की चाकरी करके उन्होंने अनेक स्थानों में भ्रमण किया। उस जमींदार की चाकरी के पश्चात् फिर उन्होंने बिहार जाकर एक दूसरे जमींदार की चाकरी कर ली। उसके पश्चात् वे कुछ वर्षों तक काषाय वस्त्र पहनकर संन्यासी के समान भ्रमण करते फिरे। सन् १६०३ में वे कलकत्ता लौट आये। उन्हीं दिनों उनके पिता की मृत्यु हो गई। अतः निःसहाय स्थिति में रंगून जाकर उन्होंने वहाँ के डिपुटी एकाउण्टैण्ट जेनरल के दफ्तर में नौकरी कर ली। सन् १६१५ में वे यह चाकरी छोड़कर

अस्वस्थ अवस्था में कलकत्ता लौट आये और शिवपुर में रहने लगे।

रंगून के प्रवासकाल में ही बङ्गाली के विभिन्न पत्रों में शरच्चन्द्र ने गल्प-उपन्यास आदि प्रकाशित करके अजेय ख्याति-लाभ कर ली थी। उनका लेखन-कार्य बराबर चलता रहा। कुछ दिनों के पश्चात् उन्होंने हवड़ा जिले के पाणित्रास नामक ग्राम में रूपनारायण नद के तट पर अपने निवास के लिए एक कवि-कुटीर का निर्माण कराया। नद के इतने निकट पहले किसी ने गृह-निर्माण कराने का साहस नहीं किया था। कुटीर-प्राङ्गण को उन्होंने मालती, चम्पक आदि लता-यूथिका से शोभित किया था। कुटीर के पद प्रान्त में ही सैकत-विस्तार में रूपनारायण की पारापारव्यापी शुभ्र, अशान्त जलराशि प्रवाहित होती है। फिर उन्होंने कलकत्ता के बालीगंज में दिव्य सुरम्य घर बनवाया।

शरच्चन्द्र ने असहयोग-आन्दोलन में यथेष्ट योग दिया था। एक दिन एक प्रमुख साहित्यिक ने उनसे पूछा—"कलम त्याग कर राजनीतिकों के दल में सम्मिलित होना साहित्यिक का काम नहीं है।" शरच्चन्द्र ने हँसकर उत्तर दिया—"किन्तु मैंने कलम छोड़कर कुछ दिनों के लिए चरखे का ही आश्रय ग्रहण किया है।"

शरच्चन्द्र ने अपने एक आत्मीय के पत्र में लिखा था—"मेरी अपेक्षा कौन बड़ा है, कौन छोटा, यह लेकर यथार्थ में मेरे मन में कोई आक्षेप, कोई उद्वेग नहीं है।...यदि कहते, मेरी कोई पुस्तक उपन्यास-पद-वाच्य नहीं है, तो भी कदाचित एक सामयिक वेदना के अतिरिक्त और कुछ मेरे मन में नहीं आता। कदाचित् विश्वास करना कठिन है, कदाचित् ऐसा लगे, मानो मैं अत्यधिक दीनता प्रकाश कर रहा हूँ, किन्तु यह

साधना ही मैंने सारे जीवन की है। इसी लिए किसी आक्रमण का प्रतिवाद मैंने नहीं किया। यौवन में रवीन्द्रनाथ के विरुद्ध दो एक बार अवश्य किया था,—परन्तु वह मेरी प्रकृति नहीं, विकृति थी। अनेक हेतुओं से मैं भूल कर बैठा था।...मैं मंत्र-तन्त्र, जप-तप नहीं जानता, किन्तु यह जानता और मानता हूँ कि प्रणाम करना न सीखने पर पाने योग्य कुछ पाया नहीं जा सकता।"

शरच्चन्द्र के उपन्यासों का अनुवाद हिन्दी, गुजराती, अँगरेजी, लैटिन, फ्रान्सीसी आदि अनेक अनेक भाषाओं में हुआ है।

वेदनाकातर अपराजेय कथाशिल्पी साहित्याचार्य शरच्चन्द्र केवल बङ्गाली ही नहीं, वरन् सारे देशवासियों के सम्मुख वन्दनीय हैं।

अपराजेय कथाशिल्पी चरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय के साहित्य के सम्बन्ध में एक बार विश्वकवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा था—"अनेक व्यक्ति गल्प-रचना के सम्बन्ध में शरत् को मेरी अपेक्षा श्रेष्ठ कहते हैं। यह मेरी चिन्ता का कारण इसलिए नहीं है कि काव्य-रचना में मैं शरत् की अपेक्षा श्रेष्ठ हूँ, यह बात मेरा अत्यन्त बड़ा निन्दक भी अस्वीकार नहीं करेगा।"

शरच्चन्द्र की मृत्यु के उपलक्ष्य में श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है—

'जाहार अमर स्थान प्रेमेर आसने,
क्षति तार क्षति नय मृत्युर शासने।
देशेर माटि थेके निलो जारे हरि,
देशेर हृदय तारे राखियाछे वरि।"

विश्वकवि की इन पंक्तियों के अनुरूप शरच्चन्द्र मृत्यु के द्वारा शासित नहीं किये जा सके। प्रेम के स्थान पर उनका स्थान अमर है।

शरच्चन्द्र के प्रति अपना चिन्तन अङ्कित करके मेरी 'दैनन्दिनी' आज धन्य हुई।

# घर और बाहर

[ श्रीमती महादेवी वर्मा ]

युगों से नारी का कार्य-क्षेत्र घर में ही सीमित रहा। उसके कर्त्तव्य के निर्धारित करने में उसकी स्वभावजात कोमलता, मातृत्व, सन्तान-पालन आदि पर तो ध्यान रक्खा ही गया, साथ ही बाहर के कठोर संघर्षमय वातावरण और परिस्थितियों ने भी समाज को ऐसा ही करने पर बाध्य किया। यदि विचार कर देखा जावे तो, न उस विस्मृत युग में, जब जाति नवीन भूमि में अपनी नवीन स्थिति को सुदृढ़ बना रही थी, न उस कोलाहलमय काल में, जब उसे अपने देश या सम्मान की रक्षा के लिए तलवार के घाट उतरना या उतारना पड़ता था, और न उस समय जब हताश जाति विलास में अपने दुःख डुबा रही थी, स्त्री के जीवन के सम्मुख ऐसा विविधवर्णी क्षितिज रहा, जैसा आज है या जैसा भविष्य में होने की सम्भावना है। तब उसके सामने एक ही निश्चित लक्ष्य था जिसकी पूर्ति उसे और उस समय के समाज को पूर्ण आत्म-तोष दे सकती थी। चाहे द्रौपदी के समान पाँच पति स्वीकार करना हो, चाहे सीता के समान मन, वचन, कार्य और शरीर से एक की ही उपासना हो, चाहे राजपूत-रमणी का जलती चिता में जौहर-व्रत हो और चाहे रीति-युग की सौन्दर्य-मदिरा बनकर जीवित रहना हो; परन्तु एक समय में एक ही लक्ष्य, एक ही केन्द्र-बिन्दु ऐसा रहा जिसकी ओर स्त्री के जीवन को सारी शक्तियों के साथ प्रभावित होना पड़ा। उस

लक्ष्य तक पहुँच जाने में उसके जीवन की चरम सफलता थी, उस तक पहुँचने के प्रयत्न में मिट जाना उसके लिए स्तुत्य, परन्तु उस मार्ग से लौट आना या विपरीत दिशा की ओर जाने की इच्छा भी उसके लिए कलंक का कारण थी। आज उसका न पहले जैसी कठोर रेखाओं में बँधा एक रूप है और न एक कर्त्तव्य; अतः वह अपना लक्ष्य स्थिर करने के लिए अपेक्षाकृत स्वतंत्र कही जा सकती है।

आज स्त्री का सहयोगी पुरुष न आदिम युग का अहेरी है, जो उसके लाये हुए पशु-पक्षियों को खाद्य रूप में परिवर्तित कर देने में ही उसके कर्त्तव्य की इति हो जावे, न वह वेद-काल का गृहस्थ है, जो उसके साथ यज्ञ में भाग लेना ही उसे सहधर्मचारिणी के पद तक पहुँचा सके; न वह वीर युग का युद्ध परायण आहत है जिसकी शिथिल और ठंडी उँगलियों से छूटती हुई तलवार सँभाल लेने में ही उसके जीवन की सार्थकता हो, प्रत्युत् वह इस उलझन भरे यंत्र-युग का एक सबसे अधिक उलझनमय यंत्र बन गया है जिसके जीवन में किसी प्रकार का सहयोग भी तब तक संभव नहीं जब तक उसे ठीक-ठीक न समझ लिया जावे। समझ लेने पर भी सह-योग तभी सुगम हो सकेगा जब स्त्री में भी जीवन के अनेक रूपों; और परिस्थितियों के साथ चलने और उनके अनुरूप परिवर्तनों को हृदयङ्गम करने की शक्ति उत्पन्न हो जावे।

वास्तव में स्त्री भी अब केवल रमणी या भार्या नहीं रही, वरन् घर के बाहर भी समाज का एक विशेष अंग तथा महत्त्वपूर्ण नागरिक है, अतः उसका कर्त्तव्य भी अनेकाकार हो गया है जिसके पालन में कभी-कभी ऐसे संघर्ष के अवसर आ पड़ते हैं, जिनमें किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो जाना पड़ता है। वह क्या करे और क्या न करे, उसका कार्य-क्षेत्र केवल घर

है या बाहर या दोनों ही, इस समस्या का अब तक समाधान नहीं हो सका है।

उसके सामने जो अन्य प्रगतिशील देशों की जाग्रत स्त्रियाँ हैं वे इस निष्कर्ष तक पहुँच चुकी हैं कि स्त्री के लिए घर उतना ही आवश्यक है जितना पुरुष के लिए; वह पुरुष के समान ही अपने जीवन को व्यवस्थित तथा कार्य क्षेत्र को निर्धारित कर सकती हैं तथा उसका मातृत्व या पत्नित्व उसे अपना विशिष्ट मार्ग खोजने से नहीं रोक सकता, और न उसके जीवन को घर की संकीर्ण सीमा तक ही सीमित रख सकता है। भारतीय स्त्री ने अभी तक इस समस्या पर निष्पक्ष होकर वैसा विचार नहीं किया जैसा किया जाना चाहिए; परन्तु अव्यक्त और अज्ञात रूप से उसकी प्रवृत्ति भी उसी ओर होती जा रही है। हमारे यहाँ स्त्रियों में एक प्रतिशत भी साक्षरता नहीं है, इसलिए हमें इस प्रवृति को भी उतनी ही कम संख्या में ढूँढ़ना चाहिए।

संसार के बड़े से बड़े, असम्भव से असम्भव परिवर्तन के आदि में इने-गिने व्यक्ति ही रहते हैं, शेष, असंख्य व्यक्ति तो कुछ जानकर और कुछ अनजान में ही उनके अनुकरण-शील बन जाया करते हैं। यदि किसी परिवर्तन का मूल्य या परिणाम आलोचनीय हो तो हमें उनके मूल प्रवर्तक तथा समर्थकों के दृष्टिकोण को समझ लेना उचित होगा, क्योंकि अनुकरणशील व्यक्तियों में प्रायः हमें उसका सच्चा रूप नहीं मिलता। अनुकरण तो मनुष्य का स्वभाव है, परन्तु प्रत्येक कार्य की अंतर्निहित प्रेरणा को उसी रूप में समझ पाना अपने-अपने बौद्धिक विकास पर निर्भर है।

भविष्य के स्त्री-समाज की रूप-रेखा हमें इन्हीं विदुषियों से मिलेगी, जिन्हें हम अभी अल्प-संख्यक जानकर जानना

नहीं चाहते, जिन्हें हम अपवाद मानकर समझना नहीं चाहते। वे अपवाद हो सकती हैं, परन्तु क्रमागत व्यवस्था के विरुद्ध किसी नवीन परिवर्तन को ले आने का श्रेय ऐसे अपवादों को ही मिलता रहा है, क्योंकि ऐसे व्यक्तियों के बिना हम असम्भाव्य को साधारण या सम्भव समझ ही नहीं पाते।

यदि हम अपने ही प्रान्त की थोड़ी सी शिक्षिता महिलाओं पर दृष्टिपात करें, तो प्रत्यक्ष हो जायगा कि उन्होंने अधिकांश में नवीन दृष्टिकोण ही को स्वीकार कर घर-बाहर में एक सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है, चाहे परिणामतः वह प्रयत्न सफल रहा, चाहे असफल, श्लाघ्य समझा गया चाहे निन्द्य। इस युग में ऐसी शिक्षिता स्त्री कठिनता से मिलेगी जिसे गृह में ऐसी आत्मतुष्टि मिल गई हो, जिसको पाकर जीवन के अनेक आघातों को, जय-पराजयों को मनुष्य गर्व के साथ झेल लेता है। हमारे शिक्षित बहनों में ऐसी भी हैं जो केवल गृहणीपन में सन्तोष न पाकर सार्वजनिक जीवन का उत्तरदायित्व भी सँभालती और कभी-कभी तो दूसरे कर्त्तव्य के पालन के लिए पहले की उपेक्षा करने पर भी वाध्य हो जाती हैं; ऐसी भी हैं जो अपनी सन्तान तथा गृहस्थी की ओर यथाशक्ति ध्यान देती हुई अन्य क्षेत्रों में भी कार्य करती रहती हैं, ऐसी भी हैं जो गृहस्थ-जीवन तथा सार्वजनिक जीवन के संघर्ष से भयभीत होने के कारण पहले जीवन को स्वीकार ही नहीं करतीं तथा ऐसी भी दुर्लभ नहीं जो समस्त शिक्षा का भार लिए घर में निष्क्रिय और खिन्न, समय व्यतीत करती रहती हैं। यदि स्त्रियों के लिए अपने व्यक्तिगत अनुभवों को हृदय में ही समाहित किये रहना स्वाभाविक न होता तो संभव

है समाज उनकी कठिनाइयाँ समझ सकता तथा उनके जीवन को अधिक सहानुभूति से देखना सीख सकता। परन्तु वर्तमान परिस्थितियों में उनके जीवन के विषय में भ्रान्तिमय धारणा बना लेना जितना सम्भव है उतना उन्हें उनके वास्तविक रूप में देखना नहीं। दरिद्र तथा श्रमजीवी इतर श्रेणी की स्त्रियों तक तो शिक्षा पहुँची ही नहीं है, परन्तु उनके सामने घर-बाहर की कोई समस्या भी नहीं है। ऐसी कोई सामाजिक तथा सार्वजनिक परिस्थित नहीं है जिसमें वे पुरुष के साथ नहीं रह सकतीं, न ऐसी कोई गृहस्थी या जीवका से सम्बन्ध रखनेवाली समस्या है, जिसमें वे पुरुष की सहयोगिनी नहीं।

यह घर तथा बाहर का प्रश्न केवल उच्च, मध्यम तथा साधारण वित्तवाले गृहस्थों की स्त्रियों से सम्बन्ध रखता है तथा ऐसी ही परिस्थितियों में सदा उन्हीं तक सीमित रहेगा। गृह की व्यवस्था और सन्तान-पालन की किन सुविधाओं को ध्यान में रखकर कब किसने ऐसी सामाजिक व्यवस्था रची थी, इसकी खोज-ढूँढ़ तो हमारा कुछ समाधान कर नहीं सकती। विचारणीय यह है कि वर्तमान परिस्थितियों में क्या सम्भव है; और क्या असम्भव।

पुरुष की जिस मनोवृत्ति ने उसे स्त्री को अपने ऐश्वर्य की प्रदर्शिनी बनाकर रखने पर बाध्य किया उसी ने कालान्तर में घर के कर्त्तव्यों से भी उसे अवकाश दे दिया। सम्पन्न कुलों में स्त्री को न सन्तान की विशेष देख-रेख करनी पड़ती है, और न गृह की व्यवस्था। वह तो केवल स्वयं को अलंकृत करके पति या पिता के घर का अलंकार मात्र बनकर जीना जानती है; उसके लिए बाहर का संसार सजीव नहीं और न वह उसके लाभ के लिए कुछ श्रम करने को स्वछंद ही है। हममें से प्रायः सब ऐसी रानी-महारानी और अन्य सम्पन्न

घरों की स्त्रियों के जीवन से परिचित होंगे, जिन्हें स्वर्ण देवता की हृदयहीन मूर्ति की उपासना के अतिरिक्त और किसी कार्य का ज्ञान नहीं। भाग्यवश इनमें से जो कुछ शिक्षिता भी हो सकी हैं इन्हें सार्वजनिक जीवन में कुछ कर सकने की स्वतंत्रता उतनी नहीं मिल सकी जितनी मिलनी उचित थी। इस श्रेणी की स्त्रियों के निकट भोजन बनाने और सन्तान-पालन का गुणगान कुछ महत्त्व नहीं रखता, क्योंकि उनके परिवार की प्रतिष्ठा के स्वर के साथ यह गुणगान बेसुरा ही जान पड़ेगा।

मध्यम तथा निम्न मध्यम श्रेणी के गृहस्थ दम्पति भी जहाँ तक उनकी आर्थिक परिस्थिति सुविधा देती है इन कर्त्तव्यों से छुटकारा पाने का प्रयत्न करते रहते हैं और इन्हें प्रतिष्ठा में बाधक समझते हैं। फिर वर्तमान युग की अनेक आर्थिक परिस्थितियों ने दास-दासियों को इतना सुलभ कर दिया है कि गृहिणी एक प्रकार से अपने उत्तरदायित्व से बहुत कुछ मुक्त हो गई है। आज प्रायः वे परिस्थितियाँ नहीं मिलतीं, जिन्होंने पुरुष का कार्य-क्षेत्र बाहर और स्त्री का गृह तक ही सीमित कर दिया था। यह हमारा अज्ञान होगा यदि हम समय की गति को न समझना चाहें और जीवन को उस गति के अनुरूप बनाने को अभिशाप समझें।

जिस प्रकार सीधा पौधा कालान्तर में असंख्य शाखा-प्रशाखाओं तथा जड़ों के फैलाव से जटिल और दुरूह हो जाता है, उसी प्रकार हमारा जीवन असंख्य कर्त्तव्यों तथा संबंधों का केन्द्र होकर पहले जैसा सरल नहीं रह सका है।

यह सत्य है कि समाज की विभिन्न परिस्थितियों, व्यक्तिगत स्वार्थ और जीविका के अस्थिर साधनों ने मनुष्य के कुटुंब को छोटा कर दिया है, परंतु इसी से उसकी अंतर्मुखी शक्तियों ने और भी अधिक बहिर्मुखी होकर घर से राष्ट्र तक या विश्व

तक फैलकर आत्मतुष्टि को उतनी सुलभ नहीं रहने दिया, जितनी वह अतीत की सामाजिक, राजनीतिक या धार्मिक व्यवस्था में थी।

आज मनुष्य की प्रवृत्ति विश्वास का नहीं, तर्क का आश्रय लेकर चलना चाहती है, और चल रही है; अतः वह व्यवस्थाओं का मूल्य भी आँक लेना चाहती है जिनके विषय में युगों से किसी ने प्रश्न करने का साहस भी नहीं किया। जिस नरक, स्वर्ग ने मनुष्य जाति पर इतने दिनों तक निरंकुश शासन किया, उसका आज के प्रतिनिधि युवक या युवती के निकट उतना भी मूल्य नहीं है जितना दादी-द्वारा कही गई गुल-बकावली की कहानी का; जिन भावनाओं ने असंख्य व्यक्तियों को घोर से घोरतर बलिदान के लिए प्रेरित किया उनको भी आज मनुष्य तर्क की कसौटी पर कसने और उपयोग की तुला पर तौलने के उपरान्त ही स्वीकार करना चाहता है; जिस धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था के प्रति मनुष्यता ने सदा से मूक भाव से मस्तक झुकाया, आज उसी को अपने रहने की भिक्षा माँगनी पड़ रही है। सारांश यह कि यह ऐसा युग है जिसमें मनुष्य सब वस्तुओं को तर्क के द्वारा समझेगा और उनकी उपयोगिता जानकर ही स्वीकार करेगा। 'ऐसा होता आया है, इसी लिए ऐसा होता रहना चाहिए' इस तर्क में विश्वास करनेवाले आज कम मिलेंगे और भविष्य में कदाचित् मिलेंगे भी नहीं।

स्त्री-समाज भी इस वातावरण में विकास पाने के कारण इन विशेषताओं से दूर नहीं रह सकता और रहना स्वाभाविक भी नहीं कहा जा सकता था। इस तर्क-प्रवृत्ति को उसने अपनी बुद्धि के अनुसार ही ग्रहण किया है इसी से हम इसे शिक्षित महिला-समाज में जिस रूप में पाते हैं, उसी रूप में

अशिक्षिताओं में नहीं पाते। जिसे देखने का अवकाश तथा बुद्धि प्राप्त है, वह स्त्री देखती है कि उसके सहयोगी पुरुष के समय का अधिकांश बाहर ही व्यतीत होता है, वह भोजन या विश्राम के अतिरिक्त घर से और किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं रखता तथा बाहर उपार्जित ख्याति को स्थिर रखने के लिए संतान और उनके पालन तथा अपने विनोद के लिए पत्नी चाहता है। इसके विपरीत स्त्री को इतनी ही स्वच्छंदता मिली है कि वह बाहर के जगत को केवल घर के झरोखे से कभी-कभी देख ले और मन में सदा यही विश्वास रक्खे कि वह कर्म-क्षेत्र उसकी शक्तियों के अनुरूप कभी नहीं था और न भविष्य में कभी हो सकेगा। इस तर्क-प्रधान युग में ऐसी आशा करना कि सौ में से सौ स्त्रियाँ इस पर कभी आलोचना न करेंगी, या इसके विपरीत सोचने का साहस न कर सकेंगी भूल के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है! कुछ स्त्रियों ने इसी युगान्तरदीर्घ विश्वास को हृदय से लगाकर अपने असन्तोष को दबा डाला, कुछ असन्तुष्ट होने के अतिरिक्त और कुछ न कर सकीं और कुछ ने बाहर आकर कौतुक से बाह्य जगत् में अपनी शक्तियों को तौला। कौतूहलवश बाहर के संघर्षमय क्षेत्र में प्रवेश करनेवाली स्त्रियों की शक्ति का ऐसा परिचय मिला कि पुरुष-समाज ही नहीं, स्त्री भी अपने सामर्थ्य पर विस्मित हो उठीं। इतने दीर्घ काल तक निष्क्रिय रहने पर भी स्त्री ने सभी कार्य-क्षेत्रों में पुरुष के समान ही सफलता पा ली। यह अब तक प्रत्यक्ष हो चुका है कि वह अपनी कोमल भावनाओं को जीवित रखकर भी कठिन से कठिन उत्तरदायित्व का निर्वाह कर सकती है, दुर्वह से दुर्वह कर्त्तव्य का पालन कर सकती है और दुर्गम से दुर्गम कार्य-क्षेत्र में ठहर सकती है। शारीरिक और मानसिक दोनों ही

प्रकार की शक्तियों का उसमें ऐसा सामंजस्य है, जो उसे कहीं भी उपहासास्पद न बनने देगा। ऐसी दशा में यह समस्या कि वह अपना कार्य-क्षेत्र घर बनावे या बाहर; और भी अधिक जटिल हो उठी हैं।

भिन्न-भिन्न देशों ने उसे अपनी अपनी परिस्थितियों के अनुसार सुलझाया है, परन्तु सभी ने स्त्री को उसकी खोई स्वतंत्रता लौटा देने का प्रयत्न अवश्य किया है। हमारे देश में अभी न उनमें पूर्ण जाग्रति है, और न इस प्रश्न का कोई समाधान ही आवश्यक जान पड़ा है। हम अपने प्राचीनतम आदर्शों को हृदय से लगाये भयभीत से बैठे उस दिन के कभी न आने की कामना में लगे हुए हैं, जब स्त्री रसोईघर के धुएँ से लाल आँखों के विद्युत भर पुरुष से पूछ बैठेगी—'क्या मुझसे केवल यही काम हो सकता है?' इस दिन को रोकने के लिये हम कभी-कभी उन महिलाओं पर अनेक प्रकार के लाञ्छन लगाने से भी नहीं चूकते जिन्होंने अपनी शक्तियों को किसी अन्य कार्य में लगाना अच्छा समझा। परन्तु उन उपायों से हम कब तक इस समस्या को भुला रखने में समर्थ रह सकेंगे, यही प्रश्न है। समाज को किसी न किसी दिन स्त्री के असन्तोष को सहानुभूति के साथ समझकर उसे ऐसा उत्तर देना होगा जिसे पाकर वह अपने आपको उपेक्षित न माने और जो उसके मातृत्व के गौरव को अक्षुण्ण रखते हुए भी उसे नवीन युग की सन्देश-वाहिका बना सकने में समर्थ हो।

हम स्त्री के जीवन को, चारों ओर फैलती हुई जटिलता में भी, आदिम काल के जीवन जैसा सरल बनाकर रखना चाहते हैं, परन्तु यह तो समाज तथा राष्ट्र के विकास की दृष्टि से सम्भव नहीं। वह घर में अन्नपूर्णा बने या न बने, केवल यही प्रश्न नहीं है, प्रत्युत् यह भी समस्या है कि यदि वह अपने

वात्सल्य के कुछ अंश को बाहर के संसार को देना चाहे तो घर उसे ऐसा करने की स्वतंत्रता देगा या नहीं और यदि देगा तो किस मूल्य पर ? जब स्त्रियों को, सुशिक्षिता बनने के लिए सुविधायें देने की चर्चा चली तो बहुत से व्यक्ति अगुवा बनने को दौड़ पड़े थे। यह कहना तो कठिन है इस प्रयत्न में कितना अंश अपनी ख्याति की इच्छा का था और कितना केवल स्त्रियों के प्रति सहानुभूति का; परन्तु यह हम अवश्य कह सकते हैं कि ऐसे सुधारप्रिय व्यक्तियों का दृष्टिकोण भी संकुचित ही रहा। उन्होंने वास्तव में यह नहीं देखा कि बौद्धिक विकास के साथ स्त्रियों में स्वभावतः अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों को फिर से जाँचने की इच्छा जाग्रत हो जायगी तथा वे घर के बाहर भी कुछ विशेष अधिकार और उसके अनुरूप कार्य करने की सुविधायें चाहेंगी। ऐसी परिस्थिति में युगों से चली आनेवाली व्यवस्था के रूप में भी कुछ अंतर आ सकता है।

अपनी असीम विद्या-बुद्धि का भार लिये एक स्त्री किसी के गृह का अलंकार मात्र बनकर संतुष्ट हो सकेगी, ऐसी आशा दुराशा के अतिरिक्त और क्या हो सकती थी। वर्तमान युग के पुरुष ने स्त्री के वास्तविक रूप को न कभी देखा था, न वह उसकी कल्पना कर सका। उसके विचार में स्त्री के परिचय का आदि अन्त इससे अधिक और क्या हो सकता था कि वह किसी की पत्नी है। कहना नहीं होगा कि इस धारणा ने ही इतने असन्तोष को जन्म देकर पाला और पालती जा रही है।

स्त्रियों के उज्ज्वल भविष्य को अपेक्षा रहेगी कि उसके घर और बाहर में ऐसा सामंजस्य स्थापित हो सके, जो उसके कर्त्तव्य को केवल घर या केवल बाहर ही सीमित न कर दे।

ऐसी सामंजस्यपूर्ण स्थिति के उत्पन्न होने में अभी समय लगेगा और सम्भव है, यह मध्य का समय हमारी क्रमागत सामाजिक व्यवस्था को कुछ डावाँडोल भी कर दे; परन्तु निराशा को जन्म देनेवाले कारण नहीं उत्पन्न होना चाहिए।

——

# युद्ध की जगह शांति का उद्योग

[ श्री जैनेन्द्रकुमार ]

शांति का सवाल इस समय सभी के मन को मथ रहा है। कुछ उसको लेकर दौड़-धूप और संगठन में लगे हैं; दूसरे आत्मनिरीक्षण और विश्लेषण में। पर शांति के इन सब प्रयत्नों के साथ सर्वसामान्य में एक शंका बनी ही रहती है। वह यह कि या तो उनके पीछे दायाँ पक्ष है, जिसमें रूस और उसके प्रभाव के देशों का योग नहीं है; या सिर्फ बायाँ है, जिसमें अमरीका और ब्रिटेन नहीं हैं।

यह दुर्भाग्य हो, पर तथ्य है। मानव-जाति एक है और दुनिया एक है, यह सबको मान्य होने पर भी सच यह है कि मानव की वह जाति और उसका वह जगत् राष्ट्र नाम की इकाइयों में और तद्गत राष्ट्रवादों में बटा-कटा चल रहा है। मानव-चेतना के पास दूसरी कोई निष्ठा नहीं है, जो इस राष्ट्र-राग को अंकुश में रखे। यों दो मतवाद हैं। साम्यवाद और लोकतंत्रवाद, पर ये भी राष्ट्र-एकांत ( नेशनल सॉवरेंटी ) को मान और उभारकर चलते हैं, उससे समर्थ और उत्तीर्ण नहीं हैं।

शांति के लिए यही सबसे बड़ी और जड़ की बाधा है।

गांधीजी में दुनिया को तो भी ढाँढ़स था। वह एक समूचे राष्ट्र के नेता थे और उस राष्ट्र से सीमित न थे। यानी आज जब कि दुनिया इतनी छोटी बन गई है कि अंतर्राष्ट्रीय होकर ही हमारा काम-काज चल सकता है तब किसी भी पूरे राष्ट्र

का बल जिसकी कृति में नहीं है ऐसा व्यक्ति, या ऐसी नीति, क्या शांति या क्या युद्ध, किसी में कुछ कर-धर नहीं सकते। गांधीजी इसी से भारत-राष्ट्र को लाँघकर अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नहीं उतरे। वह जानते थे कि काम-काज के क्षेत्र में केवल तत्त्व-विचार की ओर से किसी नई नीति का प्रयोग-आरंभ नहीं होने वाला है। इसलिए वह तत्त्वदर्शन या विचार-विवेचन का प्रश्न नहीं है। प्रश्न अधिक घनिष्ठ और समग्र है; वह अंतर्राष्ट्रीय है। इसलिए उसके घटक किसी एक राष्ट्र को आत्म-प्रयोग से आरंभ करना और उस नीति का प्रवर्त्तक बनना होगा। उनकी श्रद्धा थी कि वह भाग भारत का है। सर्वांश में अखंड सत्य के होने पर भी (बल्कि, ही) मानों पूरी तरह वह खंड-राष्ट्र के बनकर रहे। जब भी अवसर आया, उन्होंने यही कहा कि भारत द्वारा ही उनका काम सब दुनिया को पहुँच जानेवाला है। यही दृष्टि थी, जिससे राष्ट्रीय कांग्रेस और उसके बाद राष्ट्रीय सरकार से भेद रखकर भी उन्होंने अपना अभेद बनाये रक्खा।

शांति कौन नहीं चाहता है? जो युद्ध ठानते हैं, वे स्वयं कब शांति नहीं चाहते? बल्कि वे तो प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि राष्ट्र-नायक होने के नाते उन पर शांति-रक्षा का दायित्व अधिक है। उस दायित्व-पूर्त्ति में ही उन्हें युद्ध स्वीकारना और ठानना पड़ता है। जहाँ तक उनकी इस मान्यता की बात है, उन्हें गलत नहीं ठहराया जा सकता।

इसलिए शांतिवादी को यह चुनौती है कि वह शांति की नीति को कहीं किसी इकाई पर, किसी मानव-समुदाय पर, लागू करके बतावे। शांति से युद्ध को हराना है तो किसी देश की समूची नीति को, विदेश-नीति को भी, शांतवाद पर ढाल और चालकर दिखायें। ऐसा नहीं होता तब तक लोग क्यों न

कहें कि शांतिवादी स्वप्नवादी हैं, आदर्शवादी हैं। व्यवहार-जगत् के नहीं, वे तो विचार-विहारी अल्पसन्तोषी लोग हैं। उनके कन्धों पर जिम्मेदारी जो नहीं है, इसलिए वे कल्पना में और आदर्श में ऊँचे ठहर सकते हैं। पर बोझवाला अपनी जानता है और चलना-चलाना उसका काम है।

इस पद्धति से शान्ति की बात शून्य हो जाती है। वह अनसुनी कर दी जाती है और लड़ाई की तैयारियाँ ज्यों की त्यों अनिवार्य बनी रहकर लोक-मानस को घेरती चली जाती हैं।

यह सवाल नहीं, चैलेंज है। इसका उत्तर उत्तर स्वयं बनकर ही दिया जा सकता है। चैलेंज शांतिवादी के लिए न भी हो, अहिंसावादी के लिए है। क्योंकि शांतिवादी शांत रहकर जी जाय और मर जाय, इतने में शायद सार्थक हो सकता हो। लेकिन अहिंसा की सार्थकता कोरी शांति में नहीं है। बाहर जग की हिंसा से जो भीतर आत्मा में चोट न खाय, वह अहिंसक कैसा? अतः प्रतिकार अहिंसक का धर्म है। अपने पर अनात्म को न सहना आत्म का धर्म है। गांधी की शांति और गांधी की अहिंसा की यही विलक्षणता है। अर्थात् हिंसा और अशांति सदा गांधी को अपनी ओर खींचती रही है; क्योंकि अहिंसा बन्द होकर न तो बैठ सकती है, न बैठा रहने दे सकती है। कारुण्य क्या कहीं समाया रह सका है? उसे तो बाहर सब कहीं पहुँचे और रमे बिना चैन ही नहीं है।

अहिंसा की चर्चा तो बहुत है। निश्चय उसमें अहिंसा की हानि है। तर्क के तार फैलाकर अहिंसा को उससे ऐसे उलझा दिया जा सकता है कि वह निष्प्राण हो जाय। जो स्वयं शक्ति है वह इस तरह जड़ बना दी जा सकती है। पर

उन सबके लिए जो या तो पुरातन परम्परा की श्रद्धा में अपने को जैन और वैष्णव कहकर अहिंसावादी गिनते हैं, या आधुनिक गांधी-अनुगामी होकर अहिंसा-धर्मी बन गये हैं, सवाल है कि और सब कहीं हथियारों की तैयारी देखते हुए और सभी को द्वेष और दुश्मनी की राह पर कटिबद्ध जानते हुए भी क्या वे अपने इस भारत देश को एक अकेले अहिंसा की नीति पर चलने को कह सकते या चलाकर दिखा सकते हैं ? अगर नहीं तो क्यों न कहा जाय कि अहिंसा व्यक्ति-धर्म ही है, जगत्-धर्म होने की उसमें क्षमता नहीं है।

मेरा मानना है कि शांति की सीमा यहीं आती है और शांति पर आरोप भी इसी जगह आता है। भारत के भीतर शांति सबकी समझ में आ जावेगी; पर वहाँ सीमा पर कि जहाँ से विदेश शुरू हो जाता है, और शायद जहाँ से दुश्मनी शुरू हो जाती है, वहाँ पर भी क्या शांति का ही धर्म लागू होगा ? वहाँ यदि शांति का धर्म नहीं चल सकता तो निश्चय रखना होगा कि अन्दर-अन्दर की शांति केवल बाहर की लड़ाई की सहायक ही बन रहनेवाली है।

युद्ध यदि तत्त्व-चर्चा का विषय नहीं है तो शांति को भी उस तरह का विषय बनकर नहीं रहना है। दोनों उससे अधिक दुर्द्धर्ष हैं। युद्ध एक महान् उद्योग है। संसार-व्यापी उद्योग एक वही है। जाने-अनजाने हम उसके यंत्र और अवयव बने हुए हैं। युद्ध किसी खास हिस्से में, किसी खास अरसे तक, चिनगारियाँ देकर फूटता दीखता है तो उसको हम वहीं तक सीमित न मान बैठें। जो चीज लहू के लाल रंगों में वहाँ फूटती दीखती है, उसको तिल-तिलकर बनाते और जमा करते तो हम कहे जानेवाले शांति के काल में हैं।

शांति कैसे हो सकती है जब तक कि युद्ध से बड़ा उद्योग बनकर वह न उभर सके ? करोड़ों व्यक्तियों को लाखों तरह का काम युद्ध देता है। हमारी समस्त और सतत क्रिया उस लक्ष को एकाग्र रखकर चलती है। शांति को भी अगर आना है तो हमारी समस्त और सतत क्रिया का उसे श्वास बनना होगा। उस शांति को करोड़ों-करोड़ों को नित्यप्रति का रचनात्मक धंधा देना होगा। उसी का प्रयोगात्मक रूप गांधीजी का रचनात्मक कार्य-क्रम है। पर ध्यान रहे, रूप में शांति नहीं है। अगर कहीं किसी ओर से भी आत्मा की श्रद्धा न्यून होकर पदार्थ की निर्भरता प्रवेश कर जाय तो रूप वहीं रहकर भी अशांति ला सकता है।

अन्त की ओर कर्म से अधिक श्रद्धा पर गांधीजी का बल हो गया था। पीछे तो राम नाम ही एक टेक रह गया और वह सही था। क्योंकि श्रद्धा बिना किया-धरा सब जंजाल हो जाता है; बन्धन काटता नहीं, वह बंधन सिरजने लगता है। श्रद्धा से जो चलता है, वह पदार्थ पर और पदार्थ से नहीं रुकता। उसकी गति अमोघ होती है। इसलिए धन से और सत्ता से या उन दोनों की दृष्टि और अवलंबन से, निकला और बना हुआ काम मुक्ति की जगह बंधन लानेवाला हो जायगा। यही स्थल है जहाँ आत्मश्रद्धा, अनात्ममोह की कसौटी हो जानी चाहिए।

आज की अवस्था जन और धन की खींच और उलझन के कारण संकटमय बन गई है। जन असंख्य हैं और यों प्रकृति की ओर से धन भी उसी तरह अटूट और अतोल है। पर विनिमय और व्यवस्था के लिए मुद्रा का प्रचलन हमने किया है, उससे गड़बड़ पड़ी है। आदमी में श्रम तो है; पर

धन को कहीं से चलकर पास आना होता है। परिणाम यह है कि श्रम में धन की अपेक्षा हो गई है और धन में उस कारण श्रम के प्रति उपेक्षा। नतीजा देखते हैं कि सिक्का जब कि स्वयं मूल्य है, तब श्रम मूल्य-हीन है और सिक्के द्वारा उसे मूल्य दिया जाता है। आवश्यक है कि ऐसी अवस्था में लोभ और यत्न सिक्के के प्रति हो और मानव के लिए वह शेष न बचे। मैं मानता हूँ कि हिंसा की अनिवार्यता इसी जगह पैदा हो जाती है और युद्ध की भी जन्म-भूमि यही है।

आज क्या हम अनुभव नहीं करते कि सारी ताकत का स्रोत वह है, जिसे हम सरकार कहते हैं? शास्त्र बताता है कि सरकार के पास उतनी ही ताकत पहुँचती है, जितनी जनता देती है; लेकिन वह बात शास्त्रीय है। यानी जनता, उसके जन-जन, अपने में वह ताकत बिल्कुल अनुभव नहीं करते। सिर्फ वही जन सामर्थ्य का अनुभव और भोग करते हैं जो सरकार बने हुए हैं। शेष यानी प्रजाजन सरकारी जनों से सदा ही अधिकार की, अनुमति की, कृपा की, आशा और भिक्षा करते रहते हैं। यह स्थिति आज मानों हद तक पहुँची हुई है। टोटेलिटेरियन जो नहीं भी है, वह भी स्टेट मानों किसी अन्तर्गत लाचारी से उसी सर्वसत्तात्मकता की ओर बढ़ी चली जा रही है।

इसका त्राण सिक्के के अवमूल्यन के सिवाय मुझे तो और कहीं नहीं दीखता। अवमूल्यन ऐसा नहीं कि जैसा हाल में डालर की अपेक्षा में स्टर्लिंग और रुपये का हो गया है। नहीं, अवमूल्यन खुद सिक्के का हो, और वह श्रम की अपेक्षा में। यानी मूल्य श्रम का इतना बढ़ जाय कि सिक्के का वह लगभग रह ही न जाय। यानी श्रम की इज्जत हो, मुद्रा की अवहेलना।

जब तक मूल्यों में यह क्रांति नहीं होती, अहिंसा हिंसा से बाजी नहीं ले सकती। जब तक औसत आदमी लाचार है कि वह धन के लिए श्रम करे, या धन उसके श्रम-फल को उठा ले जाय, तब तक श्रम पीछे और धन आगे रहेगा ही। यानी तब तक परिमाण का महत्त्व होगा, गुण की अवगणना होगी; वस्तु की पूजा और व्यक्ति की अवज्ञा होगी; चातुर्य चलेगा और सहानुभूति भूखी रहेगी; उत्सर्ग मूर्खता समझा जायगा और उपार्जन कुशलता का प्रमाण होगा, तब तक जिन्दगी हमारी औंधी रहेगी और शांति युद्ध की सामग्री बनने के लिए रची जाया करेगी।

मेरा मानना है कि गांधीजी हमको उसी तरफ लिये जा रहे थे। उत्पादन का और शासन का विकेन्द्रीकरण वह उसी निमित्त से चाहते थे। चहुँ ओर दूर-दूर फैली धरती में पसीने के रूप में पड़ी हुई असंख्यों की श्रम-साधना सिक्के के जादू से जो गिनती के कुछ शहरों में चुसी और खिंची चली आती है, यह दृश्य उन्हें मानवता का पातक जान पड़ता था। सिक्के का जादू वह हमारे सिर चढ़ा था और चढ़ा है। ज़रा 'समझ' आते ही हमारी आँख मुद्रा में बस जाती है। श्रम से जी हटने लगता है। यह तो कृपा है कि समझदारी सब तक नहीं पहुँच पाती और श्रमिक श्रम में अपने को सार्थक करते ही चले जाते हैं। लेकिन मानों कुछ ने प्रण किया है कि वे सबको 'सद्ज्ञान' पहुँचाकर ही रहेंगे, यानी मानव-चिंता को आर्थिक और आंकिक बनाकर ही छोड़ेंगे। मार्क्स को आदि लेकर कम्यूनिज़म ने यह बीड़ा उठाया दीखता है। उसके इस अर्थ ने, मानव-जाति की भाषा में कहें तो, बड़ा अनर्थ किया है; क्योंकि जिसका मूल्य ढहना है, उसी में नये सिरे से मूल्य पड़ रहा है। श्रमिक की भाषा श्रम की न रहकर अर्थ की बन गई

है और आदमी को असहाय करके स्नेह को सर्वसहाय बनाया जा रहा है।

शांति की समस्या उत्पादन के बढ़ जाने से या सम्पत्ति के निर्वैयक्तिक हो जाने से या विनिमय और वितरण के द्रुत और नियमित कर दिये जाने से उतनी सीधी-संलग्न नहीं है; क्योंकि इस ओर से मनुष्य में आत्म-निर्भरता और आत्म-गौरव का भाव नहीं जगनेवाला है। वह तो उपाय मुख्यता से इसमें है कि मानव-चेतना का भार-केन्द्र धन से श्रम की ओर बढ़े और क्रमशः अवस्था वह आये कि श्रम ही एक धन हो जावे और उससे पृथक् मूल्य का कहीं अधिष्ठान ही न रहे।

इस दिशा में समझ-बूझकर चेष्टा हो और सब देशों की उदासीनता पर भी एक भारत देश की राष्ट्रनीति उधर चले तो मेरी प्रतीति है कि अन्तर्राष्ट्रीय दबाव उस पर कम होना आरम्भ हो जायगा और विश्व-संकट भी कुछ ढीला होगा।

आज तो भारत के पूरब और पच्छिम, दोनों तरफ पाकिस्तान है, जिसके साथ सम्बन्ध मीठे नहीं हैं। परिणामतः देश की सारी इकॉनामी ( अर्थ-नीति ) उस दुश्चिन्ता के अधीन चलने को लाचार है। सेना और सैनिक का महत्त्व ऊँचा रखना होता है; सरकारी आय का बहुत बड़ा भाग उसमें जाता है; श्रम की सार्थकता जैसे श्रमिक के पास न होकर सैनिक के पास हो जाती है, जिसका सीधा काम बनाना या उगाना न होकर बिगाड़ना और नष्ट करना है। सारी दृष्टि को हमें तदनुकूल बनाना पड़ता है और उत्पादन से अधिक व्यय की महिमा बढ़ती है। सैनिक सेवा लेने के लिए दूसरी दिशाओं में उसे भोग की सुविधा देनी होती, बल्कि भोग की आदत उसमें डालनी होती है। ऐसे जान-बूझकर संस्कारिता से उलटा यानी वहशियाना क्रम चलाना होता है।

क्यों ? क्योंकि अपना तर्क दूसरे के व्यवहार से लेने की भूल से हम आरंभ करते हैं। कोई हमें दुश्मन मानता है तब हमारे लिए भी दुश्मनी ही एक नीति रह जाती है, ऐसा हम मान लेते हैं। गांधी जी ने कहा कि ठीक इसी जगह अपनी गलती हमें पकड़ लेनी चाहिए और साहसपूर्वक दूसरी नीति का प्रयोग कर चलना चाहिए। मित्र को मित्रता देने में क्या बड़ाई ? या क्या पराक्रम ? शत्रु को मित्रता से हराना है। शत्रु का सच्चा नाश इसी में है; क्योंकि शत्रुता के बीज मिटते हैं और शत्रु सदा के लिए मित्र बनता है। पाकिस्तान कुछ भी करे तो भी क्या भारत भलेमानस की तरह दबता ही चला जाय ?—गांधी की नीति ऐसी ही पोच थी और कांग्रेस उसी दब्बूपने से चल रही है, संघी और महासभाई मानो यह कह-कर हिंदू-पराक्रम को जगाना चाहता है।

पराक्रम तो ठीक; लेकिन पराक्रम हिंदू बनकर क्या अहिंदू को उसी के लिए ललकारता नहीं है ? ऐसे इन्सानी पराक्रम का घात और राष्ट्रीय कहे जानेवाले परस्पर-विरोधी पराक्रमों के विग्रह की ही प्रदर्शिनी होती है। युद्ध वही नुमाइश नहीं तो क्या है ? इसलिए समय है कि अब एक अनोखे पराक्रम का उदय हो, जो अहिंसक और प्रसन्न सदा इसलिए रह सके कि उसका राग किसी सीमितता में नहीं है; कि उसकी श्रद्धा उस असीम में है, जो सब कहीं है, इसलिए जिसमें शत्रुता के लिए स्थान नहीं है, वह अडिग और अटूट रह सकता है; क्योंकि रोष ही है, जो डिगता और टूटता है। उत्कट और उद्दीप्त राष्ट्रवादों के घमसान में अगर कोई राष्ट्र समग्र मा-नवजाति की ओर से इस भव्य और मौलिक इसलिए आध्या-त्मिक पराक्रम का पक्ष लेकर नहीं खड़ा हो सका तो भविष्य क्या होगा, कहना मुश्किल है।

गांधीजी तो गये। उनमें धर्म कर्म से और कर्म धर्म से जुदा न था। लगता है कि उनकी परम्परा कहीं बँटकर खंड-खंड तो नहीं हो गई! ऐसा तो नहीं कि धर्म विनोबा में और कर्म जवाहरलाल में टिकने को रह गया और उन सिरों के बीच का गांधी-सूत्र कुछ क्षीण पड़ गया? ऐसा है तो शांति के लिए शायद मानव की ओर से आशा का स्थान नहीं है। लेकिन अगर ऐसा नहीं है और वह आत्म-सूत्र दोनों को अभिन्न एकता में गूँथकर भारतीय जीवन में सक्रिय कर दे सकता है तो हम निश्चय रखें कि उमड़ते काले बादल कट जायँगे और-भारत के भावी को बालसूर्य के रूप में उदय होने से कोई न रोक पावेगा। तब पूर्व से प्रकाश जायगा और एक नई विश्व संस्कृति का आविर्भाव होगा।

———

# रूढ़ि और मौलिकता

[ श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' ]

The more perfect the artist, the more completely separate in him will be the man who suffers and the mind which creates.*

टी० एस० इलियट

'भारतवासी रूढ़िवादी हैं' यह कथन हम सबने कभी न कभी सुना है। प्रायः वह स्वीकार भी होता रहा है। एक दिन इस कथन में सराहना का भाव था। यह भारतीयों का गुण समझा जाता था कि वे रूढ़ियों को मानते हैं। आज, जब चारों ओर 'प्रगति' की इतनी चर्चा है तब, रूढ़ियाँ हमारे जीवन-नाटक के खल-नायक के पद पर शोभित होने लगी हैं। साहित्य में भी, विशेषतया आलोचना के प्रसंग में, यह फैशन सा हो गया है कि रूढ़ि का तिरस्कार किया जाय। जब यह तिरस्कार इतना स्पष्ट नहीं भी होता, तब भी हम किसी आधुनिक लेखक की समकालीनता अथवा 'आधुनिकता' का मूल्यांकन इसी कसौटी पर करते हैं कि वह किस हद तक रूढ़ियों को मानता अथवा तोड़ता है। उदाहरणतः हम प्रायः कहते हैं कि 'हरिऔध' रूढ़िवादी हैं, तथा पंत और 'निराला' आधुनिक हैं यानी रूढ़ियों के प्रति विद्रोही हैं।

---

* कलाकार जितना ही सम्पूर्ण होगा, उतना ही उसके भीतर भोगनेवाले प्राणी और रचनेवाली मनीषा का पृथक्त्व स्पष्ट होगा।

आलोचना के वर्तमान फैशन की ओर तनिक ध्यान दें तो हम देखेंगे, आजकल हिन्दी में (हिन्दी में ही क्यों, प्रायः सर्वत्र ही,) लेखक अथवा कवि की रचनाओं के 'मौलिक', 'व्यक्तिगत' विशेष गुणों पर जोर देने की परिपाटी सी चल पड़ी है। आजकल का साहित्यकार अपनी 'भिन्नता' के लिए ही प्रशंसा पाता है। 'मौलिकता' 'भिन्नता' का ही पर्यायवाची बन गया है। कवि को हम उसके पूर्ववर्तियों से, विशेषकर निकट पूर्ववर्तियों से, उच्छिन्न करके देख सकें तभी हमें सन्तोष होता है। आलोचकों के आगे यह कहना अपने को हास्यास्पद बना देना होगा कि कभी-कभी साहित्यकार का गौरव, उसकी रचना का महत्त्व, इस बात में भी हो सकता है कि उसमें साहित्यकार के पूर्ववर्तियों की लम्बी परम्परा, उसके साहित्य की रूढ़ि, पुनः जी रही और मुखर हो रही है।

लेकिन हास्यास्पद बनने का खतरा उठाकर भी यही कहना आवश्यक जान पड़ता है कि रूढ़ि-परम्परा के विषय में अपनी धाराओं की दुबारा जाँच करना अनिवार्य हो गया है। क्या हमारी धारणा ठीक है? क्या 'रूढ़ि' की परिभाषा 'पुराने' साहित्य की अग्राह्य और खण्डनीय परिपाटियाँ ही हैं? क्या परम्परा को निबाहना, गई हुई पीढ़ियों की रीतियों और सफलताओं के अन्धानुकरण का ही नाम है? रूढ़ि क्या है? परम्परा का साहित्य में क्या स्थान है, और साहित्यकार के लिए क्या मोल?

रूढ़ि की रूढ़िग्रस्त परिभाषा हमें छोड़नी होगी, हमें उदार दृष्टिकोण से उसका नया और विशालतर अर्थ लेना होगा। हमें सबसे पहले यह समझना होगा कि रूढ़ि अथवा परम्परा कोई बनी-बनाई चीज नहीं है जिसे साहित्यकार ज्यों का त्यों पा या छोड़ सकता है, मिट्टी के लोंदे की तरह अपना या फेंक

सकता है। हमें यह किंचित् विस्मयकारी तथ्य स्वीकार करना होगा कि परम्परा स्वयं लेखक पर हावी नहीं होती, बल्कि लेखक चाहे तो परिश्रम से उसे प्राप्त कर सकता है, लेखक की साधना से ही रूढ़ि बनती और मिलती है। और हम यह भी सिद्ध करेंगे कि रूढ़ि की साधना साहित्यकार के लिए वांछ-नीय ही नहीं, साहित्यिक प्रौढ़ता प्राप्त करने के लिए अनि-वार्य भी है।

रूढ़ि की साधना, परम्परा के प्रति जागरूकता, कैसे प्राप्त हो सकती है और किस प्रकार साहित्यकार के मानस को, उसके कार्य के मूल्य को, प्रभावित करती है ? इस जागरूकता का मुख्य उपकरण है एक ऐतिहासिक चेतना अर्थात् जो कालानुक्रम में बीत गया है, अनीति है, उसके बीतेपन की ही नहीं, उसकी वर्तमानता की भी तीखी और चिर-जाग्रत अनुभूति। साहित्यकार के लिये आवश्यक है कि साहित्य में और जीवन में 'असीत्' का और 'अस्ति' का जो 'अचिर' हो गया है उसका और जो 'चिर' है उसका, और इन दोनों की परस्परता, अन्योन्याश्रयता का, ज्ञान उसमें बना रहे। आधुनिक हिन्दी-लेखक में यदि यह ऐतिहासिक चेतना होगी, तो उसकी रचना में न केवल अपने युग, अपना पीढ़ी से उसका सम्बन्ध बोल रहा होगा; बल्कि उससे पहले की अनगिनत पीढ़ियों की, और उसके साथ अपनी पीढ़ी की संलग्नता और एकसूत्रता की भी तीव्र अनुभूति स्पन्दित हो रही होगी। जो 'है', उसकी साधना में ऐसा साहित्यकार उसे एक ओर हटा-कर नहीं फेक सकेगा जो 'था'; वह अनुभव करेगा कि 'अतीत' उसी का नाम है जो पहले से वर्तमान है, जब कि 'आज' वह है जो वर्तमान होना आरम्भ हुआ है। अतीत और वर्त-मान के इस दुहरे अस्तित्व की, उनकी पृथक् वर्तमानता और

उनकी एकसूत्रता की, निरन्तर अनुभूति ही ऐतिहासिक चेतना है; और इस चेतना का अनवरत स्पन्दनशील विकाश ही परम्परा का ज्ञान। काल की प्रवहमानता के ऐसे ज्ञान के बिना साहित्यकार उस प्रवाह में अपना स्थान भी नहीं जान सकता, आधुनिक क्या किसी भी युग में जम नहीं सकता। ऐसे ज्ञान से हीन साहित्यकार ऐसा अंकुर है जो कहीं से भी प्राण-रस खींचने का मार्ग नहीं स्थापित कर सका, 'काल के महाप्रांगण' में कहीं भी अपनी जड़ें नहीं समा सका, जो उच्छिन्न होकर ही फूटा है।

इस बात को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करने का यत्न किया जाय। इसके लिये हम आज का कोई भी कवि ले लें। 'नूतन' अथवा 'विद्रोही' माना जानेवाला कवि ही—मान लीजिए सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'। क्या इन्हें समझना, इनकी समीक्षा करना, साहित्य के विकाश में इनका स्थान और महत्त्व निश्चित करना, इनकी रचना का मूल्य आँकना, केवल उन्हीं को अकेले अकेले देखकर सम्भव है? क्या उनकी तत्कथित विशेषता, भिन्नता, को देखने के लिए भी हम उन्हें उनके पूर्ववर्तियों के बीच नहीं रखेंगे, उनसे तुलना नहीं करेंगे? क्या उन पर, किसी भी कवि पर, कोई भी मत स्थिर करने के पहले हम उसके पूर्ववर्ती साहित्यकारों और कवियों के साथ उसके सम्बन्ध की जाँच-पड़ताल नहीं करेंगे?

इस प्रकार का अन्वेषण केवल 'ऐतिहासिक' विवेचन के लिए नहीं, कलात्मक विवेचन के लिए भी नितान्त आवश्यक है। कोई भी कला वस्तु, चाहे कितनी भी नई क्यों न हो, ऐसी वस्तु नहीं है जो अकस्मात् अपने आप 'घटित' हो गई; है; वह ऐसी वस्तु है, जो अपने आप में नहीं, अपने पूर्ववर्ती तमाम कला-वस्तुओं की परम्परा के साथ घटित हुई है।

जितनी ही वह नई है, उतनी ही महत्त्वपूर्ण कलावस्तुओं की परम्परा के साथ घटित हुई है; उतना ही परम्परा के साथ उस सम्बन्ध का अन्वेषण करना प्रासंगिक हो गया है। क्योंकि 'जो पहले से वर्तमान है' उसकी तो एक बनी-बनाई परम्परा थी, उसमें एक प्रवहमान स्थिरता, एक सामंजस्य था जो कि एक नई वस्तु के आविर्भाव से डाँवाडोल हो गया है। पुनः किसी प्रकार का सामंजस्य स्थापित होने के लिए, एक नया तारतम्य प्राप्त करने के लिए, समूची परम्परा को पुनः जमाना होगा, फिर इसके लिए आवश्यक परिवर्तन चाहे कितना ही अल्प अथवा सूक्ष्म क्यों न हो।

परिणाम यह निकला कि प्रत्येक नई रचना के आते ही, पूर्ववर्ती परम्परा के साथ उसके सम्बन्ध, उसके परस्पर अनुपात और सापेक्ष्य मूल्य अथवा महत्त्व का फिर से अंकन हो जाता है; तथा 'पुरातन' और 'नूतन', 'रूढ़' और 'मौलिक', परम्परा और प्रतिभा में एक नया तारतम्य स्थापित हो जाता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि हम वर्तमान को अतीत के मानदण्ड पर नाप रहे हैं, अथवा कि अतीत को ही वर्तमान द्वारा आँक रहे हैं। वास्तव में इस क्रिया द्वारा दोनों विभूतियाँ परस्पर एक दूसरे के योग पर, घटित होती हैं। आधुनिक साहित्यकार को मानना पड़ता है कि वह चाहे या न चाहे, उसे अतीत द्वारा, रूढ़ि द्वारा, उतना ही नियमित होना पड़ता है जितना वह स्वयं उसे परिवर्तित अथवा परिवर्धित करता है।

निस्सन्देह ऐसा ज्ञान आधुनिक साहित्यकार के उत्तरदायित्व को बहुत बढ़ा देता है। बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि इससे साहित्यरचना में कठिनाइयाँ भी उत्पन्न होती हैं।

क्योंकि इससे लेखक में यह चेतना उत्पन्न होती है कि एक विशेष अर्थ में वह अतीत द्वारा जोखा जा रहा है, उसके आगे परीक्षार्थी है। लेकिन उसे समझना चाहिये कि वह अतीत द्वारा जोखा ही जाता है, कुण्ठित नहीं होता। अतीत का निर्णय खण्डित करनेवाला, बाँधनेवाला नहीं है—आधुनिक लेखक की आलोचना पूर्ववर्त्तियों जैसा या पूर्ववर्त्तियों से अच्छा या बुरा कहकर नहीं की जा सकती। न ही आधुनिक साहित्य का मोल पूर्ववर्ती आलोचकों की कसौटियों पर आँका जा सकता है। अतीत द्वारा जोखे जाने का अर्थ अतीत मान-दंडों द्वारा जोखा जाना नहीं है। अतीत के कृतित्व का अन्धा-नुकरण विघातक होगा। निरी गतानुगतिकता से कला की पर-म्परा की रक्षा कदापि नहीं होती; क्योंकि जो केवल आवृत्ति है, वह नूतन नहीं है और नूतनता के चमत्कार के बिना वह कला ही नहीं है। अतीत के द्वारा जोखे जाने का अभिप्राय इतना ही है कि नूतन रचना उसके साथ एक तारतम्य स्थापित कर सके, एक सूत्र हो सके, उसमें परम्परा की प्रवहमानता स्पन्दित हो। यदि ऐसा नहीं होता, और जब तक ऐसा नहीं होता--यदि नई रचना के साथ कला की रूढ़ि का कोई सम्बन्ध नहीं बनता, वह एक विलग, असम्बद्ध, खण्डित इकाई के रूप में रहती है—तब और तब तक, वह कला के क्षेत्र में महत्त्व नहीं रखती, प्राणवान नहीं होती है। बिना एक गतियुक्त और वर्धमान (Organic) परम्परा, एक जीवित रूढ़ि के, कला का अस्तित्व टिक नहीं सकता। इस चौंका देनेवाली और किंचित् शंकनीय उक्ति को तनिक और स्पष्ट करके कहना होगा। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि कोई रचना इसलिए महत्त्व रखती है कि वह परम्परा के अनुकूल है; अभिप्राय केवल इतना ही है कि यह अनुकूलता अथवा तारतम्य उसके महत्त्व

का सूचक हो सकता है। रूढ़ि के साथ सम्बन्ध अथवा तारतम्य स्वयं ही रचना का मूल्य अथवा महत्व नहीं है; मूल्य अथवा महत्त्व उस गतियुक्त और वर्तमान परम्परा में, रूढ़ि की सजीव प्रवहमानता में है, जो इस तारतम्य से व्यंजित होती है।

यह परिभाषा, यह सूक्ष्म भेद, इतना महत्व रखता है कि पुनरावृत्ति दोष का सामना करके भी इसे और स्पष्ट करने का प्रयत्न करना होगा। यों कहें कि कोई भी लेखक अतीत को ज्यों-का-त्यों, सत्तू के गोले की तरह निगल नहीं सकता; लेकिन साथ ही वह अपनी रचना के लिए किसी एक-डेढ़ कलाकार को आदर्श बनाकर, अथवा किसी विशेष काल का अनुसरण करके भी चल सकता। एक कवि या कवि समुदाय को आदर्श मानकर उसके ढंग अथवा शैली की साधना करना वयःसंधिप्राप्त लेखक के लिए रुचिकर या हितकर हो सकता है; एक युग की अनुगतिकता साहित्यिक व्यायाम अथवा रुचि-परिष्कार के लिए उपयोगी हो सकती है; लेकिन प्रौढ़ और बलिष्ट साहित्य इस तरह नहीं चल सकता। साहित्यकार को कला की, साहित्य-सृष्टि की मुख्य प्रवृत्ति से, साहित्यिक परम्परा की निरन्तर विकासशील प्रवहमानता से परिचित होना ही होगा; अतीत में से निकट अतीत और उसमें से वर्तमान के विकाश को भी परम्परा के प्रति ऐतिहासिक जागरूकता उसे पानी ही होगी। उसे अपने निजी, व्यक्तिगत, भिन्न, अकेले मन के प्रति ही नहीं, अपने साहित्य के, अपने समाज के, अपनी सांस्कृतिक परिवृत्ति के, अपने देश के समष्टिगत मन के—यदि उसकी क्षमता उतनी है, तो जन-मन विश्व-मन के—प्रति भी सचेतन होना होगा; क्योंकि उसे इसका भी अनुभव करना होगा कि यह विशाल-

तर मन उसके निजी मन से कहीं अधिक गौरव रखता है, और जितने ही बड़े मन की जितनी ही गहरी चेतना उसमें है, उतना ही अपने युग के साथ उसका सम्बन्ध फलप्रद है। इतना ही नहीं, उसे यह भी जानना होगा कि यह सामूहिक मन परिवर्तन हो सकता है और होता है, विकासशील है, पर इस विकास और परिवर्तन में वह अपने किसी अंग का परित्याग अथवा बहिष्कार नहीं करता, केवल उसके प्रति एक नई चेतना पैदा कर देता है। वाल्मीकि के लिए वेदों को, कालिदास के लिए वाल्मीकि को, तुलसीदास के लिए कालिदास को, या मैथिलीशरण गुप्त के लिए तुलसीदास को, वह छोड़ नहीं देता; वह इन सबको अपनी प्रवहमानता के लंबे सूत्र में पिरोता चलता है। उस मन में 'अतीत' कुछ भी नहीं होता, केवल 'पहले से वर्तमान' की वह परम्परा बढ़ती चलती है जिसमें 'नया आया हुआ वर्तमान' अपना स्थान बनाएगा। अचिर के साथ चिर के तारतम्य की यही वाध्यता, अचिर की माला में गुंथ जाने का चिर का अधिकार, साहित्यकार के लिए रूढ़ि अथवा परम्परा का यही 'शापमय वरदान' है।

शायद इतना भी पर्याप्त नहीं होगा, शायद साहित्यकार को इससे भी अधिक कुछ जानना होगा। एक तो उसे यह समझना होगा कि 'कला को, साहित्य-रचना की मुख्य प्रवृत्ति' का युग के सबसे उल्लेखनीय कवियों की ही रचनाओं में प्रीतिबिम्बत होना अनिवार्य नहीं है। बहुत संभव है, एक युग की मुख्य चिन्ताधारा ऐसे कवियों में लक्ष्य हो, जो अपने युग में या कभी भी प्रसिद्धि नहीं पा सके। इस कठिनाई का सामना करते हुए उसे युग की नब्ज पहचानना होगी,

युग की चेतना का विशालतर रूढ़ि की चेतना के साथ संबंध जोड़ना होगा।

दूसरी कठिनाई उसके आगे यह होगी कि यद्यपि सामूहिक मन निरन्तर बदल रहा है, तथापि यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि यह परिवर्तन अनिवार्य रूप से उन्नति का परिणाम है—कि इस परिवर्तन द्वारा हम कलात्मक दृष्टि से ( अथवा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी, कम से कम उस हद तक जितना कि कल्पना की जा सकती है ) पहले से अच्छे हो गये हैं। निश्चयपूर्वक केवल इतना ही कहा जा सकता है कि कला की सामग्री निरन्तर बदलती रहती है, कला शायद नहीं बदलती। सम्भव है, सामूहिक मन का परिवर्तन केवल जीवन के संगठन की क्रमः बढ़ती हुई उलझन का ही परिणाम है, और स्वयं एक अधिक उलझी ( complex ) विचार-संघट्टना का पर्यायवाची है। किन्तु वह चाहे जो हो, यह तो स्पष्ट ही है कि उस परिवर्तन द्वारा प्राचीन और नवीन में एक अंतर आ जाता है। अतीत और वर्तमान के इस अंतर को हम यों कह सकते हैं कि जागरूक वर्तमान, अतीत की एक नये ढंग की और नये परिणाम में अनुभूति का नाम है, जैसी और जितनी अनुभूति उस अतीत को स्वयं नहीं थी। वर्तमान में रहनेवाले साहित्यकार के लिए अतीत का, परम्परा का, यही महत्व है।

आधुनिक साहित्यकार के लिए रूढ़ि के ज्ञान को, ऐतिहासिक चेतना को इतना महत्व देना पाठक को अनुचित जान पड़ता है। वह कह सकता है कि ऐसी चेतना के लिए बहुत पढ़ाई की, प्रकाण्ड पाण्डित्य की आवश्वकता होगी और इतिहास की साक्षी दे सकता है कि कलाकार पंडित नहीं होते, न पंडित कलाकार। वह कह सकता है कि बहुत

अधिक कोरे 'ज्ञान' से अनुभूति-क्षमता कम होती है। सरसरी दृष्टि से यह तर्क बहुत माकूल जान पड़ता है। लेकिन सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय, तो इसमें एक भ्रान्त धारणा निहित है। ज्ञान अथवा शिक्षण केवल किताबी जानकारी का, परीक्षाएँ पास करने के लिए या रोब डालने के लिए इकट्ठे किए हुए इतिवृत्त का नाम नहीं है। निस्संदेह साहित्यकार को अपनी ग्रहणशीलता अक्षुण्ण बनाये रखते हुए अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करनी चाहिए,❀ लेकिन रूढ़ि के ज्ञान के लिए परम्परा के सजीव स्पन्दन की चेतना के लिए निरी जानकारी और पाण्डित्य अनिवार्य नहीं है। ऐतिहासिक चेतना प्राप्त करने के लिए निजी मन के साथ-साथ और उसके ऊपर, सामूहिक मन का अनुभव करने के लिए—कुछ को बहुत परिश्रम करना पड़ सकता है, कुछ उसे अनायास ही प्राप्त कर सकते हैं। भारत के ग्राम्य-मन की जो जीवित अनुभूति गांधी में है, या हिन्दी साहित्य क्षेत्र में प्रेमचन्द में थी, वह पाण्डित्य के सहारे नहीं आई। जो सांस्कृतिक चेतना 'प्रसाद' में गूढ़ अध्यन के सहारे जागी जान पड़ती है,† वह अधिक स्वाभाविक और स्वच्छ रूप में सियारामशरण गुप्त में लक्षित होती है। कोई लोग धोख-

---

❀ और हमारा अनुमान है कि आज के हिन्दी साहित्यकारों में अधिकांश में इतनी जानकारी नहीं है। जितनी उनकी ग्रहणशीलता अथवा अनुभूति-क्षमता है, उसे कम किए बिना भी निजी जानकारी बढ़ाने की बहुत काफी गुंजाइश है।

† इस आयात-सिद्ध सांस्कृतिक चेतना के साथ 'प्रसाद' में एक प्रतिगामी चेष्टा भी है; अपने युग के साथ उनका तारतम्य नहीं स्थापित हुआ। देखिये 'परिस्थिति और साहित्यकार।'

कर ज्ञान प्राप्त करते हैं, कोई अशयास सोखकर। पाण्डित्य पर हमारा आग्रह नहीं, आग्रह इस बात पर है कि साहित्यकार में अतीत की चेतना होनी या आनी चाहिए, और उसे आजीवन इसको पुष्ट और विकसित करने का प्रयत्न करना चाहिए।

किसी ने कहा है 'The dead writers are removed from us because we KNOW so much more than they did' अर्थात् 'हम पूर्ववर्त्ती लेखकों से इसलिए अलग हैं कि हम उनसे कहीं अधिक जानते हैं।'—वह अधिक क्या है ? स्वयं हमारे पूर्ववर्ती लेखक, जिन्हें हम जानते हैं। यही परम्परा के निर्माण की क्रिया का खुलासा है। इसी बात को दूसरी तरह कहें, तो कह सकते हैं कि रूढ़ि के, परम्परा के, विरुद्ध हमारा कोई विद्रोह हो सकता है, तो यही कि हम अपने को परम्परा के आगे जोड़ दें।

और यह योग किस प्रकार होता है ? साहित्यकार के आत्मदान द्वारा। कलाकार निरन्तर अपने व्यक्तिगत मन को, अपने तात्कालिक, अधिक क्षणिक अस्तित्व को, एक महानतर मन में और एक विशालतर अस्तित्व के ऊपर निछावर करता रहता है, अपने निजी व्यक्तित्व को एक वृहत्तर व्यक्तित्व के निर्माण के लिए मिटाता रहता है। यह आत्मनिवेदन मृत्यु नहीं है। ऐतिहासिक चेतना के सहारे कलाकार को जानना चाहिए कि व्यक्तित्व का उत्सर्ग उसका विनाश नहीं है, क्योंकि उसके द्वारा वह उस परम्परा को भी परिवर्धित कर रहा है, जिस पर वह निछावर ❀ है। छोटे व्यक्तित्व से निरन्तर बड़े व्यक्तित्व की ओर बढ़ते जाना—यही कलाकार

❀ इस सम्बन्ध में देखिये 'परिस्थिति और साहित्यकार'।

की प्रगति और उन्नति है। और ऐतिहासिक चेतना-परम्परा के स्पन्दन की अनुभूति, इस उन्नति का साधन और मार्ग है।

[ २ ]

Poetry is not a turning loose of emotion, but an escape from emotion; it is not the expression of personality, but an escape from personality.❀

—टी० एस० इलियट

साहित्य के निर्माण को समझने के लिए, रूढ़ि के आगे व्यक्ति के आत्मोत्सर्ग की इस क्रिया का, जिसे ऊपर भी और अन्यत्र भी स्पष्ट करने का यत्न किया गया है, विशेष महत्व है। अतएव इसे और निकट से देखने का प्रयास असंगत न होगा।

आलोचना का विषय साहित्य है, साहित्यकार नहीं; कविता है, कवि नहीं; यद्यपि जैसा कि अन्यत्र भी सूचित किया गया है, साहित्य और काव्य की जाँच के लिए भी हमें निरन्तर उस मन की धातु ( Quality ) परखनी होगी जिससे साहित्य उद्भूत हुआ है। स्पष्ट रहे कि 'मन की परख' व्यक्तित्व की या व्यक्तिगत इतिहास की जाँच से बिलकुल भिन्न, हैं क्योंकि 'अनुभव करनेवाला प्राणी' और 'रचना करनेवाला मन' अलग-अलग हैं या होने चाहिए। इस प्रकार किसी साहित्यिक कृति का मूल्यांकन करने के लिए हमें अन्य साहित्यिक कृतियों के साथ उसके संबंध की ओर

❀ कविता भावों का उन्मोचन नहीं है, बल्कि भावों से मुक्ति है; वह व्यक्तित्व की अभिव्यंजना नहीं, बल्कि व्यक्तित्व से मोक्ष है।

तो ध्यान देना ही होगा, साथ ही साथ हमें यह भी जाँच करनी होगी कि रचना का उसके निर्माण के साथ—रचना करनेवाले मन के साथ—क्या संबंध है। 'प्रौढ़' और कच्ची कवि प्रतिभा का अंतर कवियों के 'व्यक्तित्व' के अनुपात में निहित नहीं है, इसमें नहीं है कि किसका व्यक्तित्व कितना बड़ा अथवा कितना आकर्षक है, कौन अधिक रोचक है, अथवा किसके पास अधिक 'संदेश' है। वास्तविक अंतर की पहचान यह है कि कौन-सा कवि-मानस किन्हीं विशेष अथवा परस्पर भिन्न, 'उड़ती हुई' अनुभूतियों के मिश्रण और संयोग और चिरनूतन संगम के लिए अधिक परिष्कृत और ग्रहणशील माध्यम है।

अंग्रेजी कवि-आलोचक टी० एस० इलियट ने इस क्रिया की तुलना एक रसायनिक क्रिया से की है। सल्फर डायक्साइड और आक्सीजन से भरे हुए पात्र में यदि प्लटिनम का चूर्ण प्रविष्ट किया जाय, तो वे दोनों गैसें मिलकर सल्फ्युरस एसिड में परिवर्तित हो जाती हैं। यह क्रिया प्लटिनम की उपस्थिति के बिना नहीं होती, तथापि बननेवाले अम्ल में प्लटिनम का कोई अंश नहीं होता, न प्लटिनम में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन ही दीखता है। वह ज्यों का त्यों पड़ा रह जाता है। इलियट कवि-मानस की तुलना इस प्लटिनम के चूर्ण से करता है। कवि-मानस भी किन्हीं विभिन्न अनुभूतियों पर असर डालकर उसके मिश्रण और संगम का माध्यम बनता है; उस संगम से एक कलावस्तु निर्मित होती है, जो विभिन्न तत्वों का जोड़ भर नहीं, उससे कुछ अधिक है, एक आत्यन्तिक एकता रखती है; और जो बिना कवि-मानस के माध्यम के अस्तित्व नहीं प्राप्त कर सकती थी।

ध्यान रहे कि यद्यपि कवि-मानस ही इस संयोग से

चमत्कार उत्पन्न करता है, और इस क्रिया में भाग लेनेवाले तत्व कुछ अनुभूतियाँ हैं, जो कवि के अपने जीवन के घटित से भी उपजी हो सकती हैं ( या उसके आत्म-घटित से बाहर की भी हो सकती हैं ) तथापि कलावस्तु का निर्माण निरी निजी अनुभूतियों से नहीं होता—कलावस्तु बनती है उन अनुभूतियों से, उन अनुभूतियों और भावों के संगम से, जिनसे कवि स्वयं अलग, तटस्थ है, जिन पर उसका मन काम कर रहा है। एक दूसरी उपमा की शरण लें, तो कवि का मन एक भट्टी है जिसके ताप में विभिन्न धातुएँ पिघलकर एक रस हो जाती हैं। ढली हुई धातु विभिन्न तत्वों से बनी है, उनमें से कुछ धातुएँ स्वयं भट्टी के स्वामी की सम्पत्ति भी हो सकती हैं, तथापि भट्टी के स्वामी से भट्टी का और भट्टी से धातु का अलगाव और स्वतंत्र अस्तित्व अक्षुण्ण बना रहता है। कलाकार जितना भी बड़ा होगा, उतना ही व्यक्ति-जीवन और रचना-शील मन का यह अलगाव भी आत्यन्तिक होगा। उतना ही रचना करनेवाला कवि-मानस अनुभव करनेवाले मानस से दूर और पृथक् होगा; उतना ही चमत्कारपूर्ण उन अनुभूतियों और भावों का संगम होगा, जो कविता रूपी प्रतिमा की मिट्टी है। फिर चाहे ये अनुभूतियाँ या भाव कवि के निजी अनुभव के, व्यक्तिगत जीवन के फल क्यों न हों। यों कहें कि जितना ही महान् कलाकर होगा, उतनी ही उसकी माध्यमिकता परिष्कृत होगी।

जिस मिट्टी से काव्य रूपी प्रतिमा बनती है, जिन तत्वों द्वारा कवि-मानस का असर एक चमत्कारिक योग उत्पन्न करता है, वे तत्व क्या हैं ? उन्हें दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। स्थायी भाव (Emotions) और संचारी भाव। कवि इनसे जो चमत्कार उत्पन्न करता है, पाठक के मन पर

जो प्रभाव डालता है, वह कला के क्षेत्र से बाहर कहीं किसी तरह प्राप्त नहीं हो सकता। कला का 'रस' कला ही में प्राप्तव्य है; उस अनुभूति की कला के बाहर की किसी अनुभूति से तुलना नहीं की जा सकती। यह अनुभूति एक ही भाव के द्वारा उत्पन्न हो सकती है, या अनेक भावों के सम्मिश्रण से, या भावों और अनुभूतियों के संयोग से; और यह अनुभूति उत्पन्न करने के लिए कवि कई प्रकार के साधन काम में ला सकता है, कई प्रकार के चित्र खड़े कर सकता है। इस सृष्टि के साधन अनेक और उलझे हुए होते हैं, पर उन साधनों द्वारा उत्पन्न होनेवाले चमत्कार में एक आत्यन्तिक एकता होती है। वास्तव में कलाकार का मन एक भण्डार है, जिसमें अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ, शब्द, विचार, चित्र, इकट्ठे होते रहते हैं उस क्षण की प्रतीक्षा में जब कि कवि प्रतिभा के ताप से एक नया रसायन, एक चमत्कारिक योग नहीं उत्पन्न हो जायगा।

कविता की, कलावस्तु की, श्रेष्ठता उसमें वर्णित विषय की या भाव की श्रेष्ठता या 'भव्यता' में नहीं है; और लेखक के लिये उन विषयों या भावों के महत्व में, या उसके जीवन में उनकी व्यक्तिगत अनुभूति में तो बिलकुल नहीं है। कविता का, कलावस्तु का गौरव, उसकी 'भव्यता' है उस रसायनिक क्रिया की तीव्रता में जिसके द्वारा ये विभिन्न भाव एक होते हैं और चमत्कार उत्पन्न करते हैं। कविता की—काव्यानुभूति की—तीव्रता और कविता में वर्णित अनुभूति की तीव्रता, परस्पर भिन्न न केवल हो सकती है, बल्कि अनिवार्य रूप से होती है। कला के भावों और व्यक्तिगत भावों का पार्थक्य अनिवार्य है। पाठक के लिये कवि या साहित्यकार का महत्व उसकी निजी भावनाओं के कारण, उसके अपने जीवन के

अनुभवों से पैदा हुए भावों के कारण नहीं है। यह दूसरी बात है कि काव्य रचना की क्रिया में अन्य भावों और अनुभूतियों के साथ, उसके अपने भाव और अपनी अनुभूतियाँ भी एक इकाई में ढल जायँ, या कि केवल अपने भाव और अनुभूतियाँ ही उस क्रिया का उपकरण बनें। रचयिता का महत्व रचना करने की क्रिया की तीव्रता में है। यही बात ऊपर दूसरे ढंग से कही गई है कि जितना ही कलाकार महान् होगा, उतनी ही उसकी माध्यमिकता परिष्कृत होगी। वास्तव में काव्य में कवि का व्यक्तित्व नहीं, वह माध्यम प्रकाशित होता है, जिसमें विभिन्न अनुभूतियाँ और भावनाएँ चमत्कारिक योग में युक्त होती हैं। काव्य एक व्यक्तित्व की नहीं, एक माध्यम की अभिव्यक्ति है।

काव्य की निर्व्यक्तिक परिभाषा से एक परिणाम और भी निकलता है। काव्य में नूतनता और बिना नूतनता के कला कहाँ है ? लाने के लिए कवि को नूतन अनुभव खोजने की आवश्यकता नहीं है। ऐसी खोज नूतन मानवीय अनुभूतियाँ प्राप्त करने की लहक, उसे मानवीय वासनाओं के विकृत रूपों की ओर ही ले जायगी और उस पर पुष्ट होनेवाला साहित्य या काव्य मानवीय विकृति (perversity) का ही साहित्य होगा। कवि का कार्य नये अनुभवों की, नये भावों की खोज नहीं है; प्रत्युत पुराने और परिचित भावों के उपकरण से ही ऐसी नूतन अनुभूतियों की सृष्टि करना, जो उन भावों से पहले प्राप्त नहीं की जा चुकी है। वह नई धातुओं का शोधक नहीं है; हमारी जानी हुई धातुओं से ही नया योग ढालने में और उससे नया चमत्कार उत्पन्न करने में उसकी सफलता और महानता है।

यह स्थापना शंकनीय जान पड़ती है। लेकिन विश्व का

महान् साहित्य उठाकर देख डालिए हमारे परिचित भाव ही हमें मिलेंगे, किन्तु नूतन योगों में; और हम यह भी पायँगे कि इस या उस महान् कलाकार की रचना का वैशिष्ट्य उसकी व्यक्तिगत अनुभूतियों की 'नूतनता' में नहीं, उसके उपकरणों के परस्पर अनुपात और योग के प्रकार की विभिन्नता में और सृजन की क्रिया की तीव्रता की भिन्नता में है। और यह क्रिया, इस क्रिया की तीव्रता—विभिन्न परिचित उपकरणों से नूतन चमत्कारिक वस्तु का निर्माण—चेष्टित नहीं है, वह स्वयं चमत्कारिक है।

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि कलावस्तु के निर्माण में चेष्टित अथवा आयास-सिद्ध कुछ भी नहीं है। निस्सन्देह कवि-कर्म का बहुत बड़ा अंश चेष्टित है, आयास-पूर्वक सिद्ध होनेवाला है; किन्तु वह अंश उपर्युक्त क्रिया की तीव्रता से सम्बन्ध नहीं रखता। बल्कि छोटे कवि में दोष यही होता है कि जहाँ परिश्रम आवश्यक है, वहाँ वह 'प्रतिभा' पर निर्भर करता है और जहाँ 'प्रतिभा' का क्षेत्र है, वहाँ आयास-पूर्वक तीव्रता लाना चाहता है। ये दोनों बातें उसकी रचना को 'व्यक्तिगत' बनाती हैं और हमारी निर्व्यक्तिक परिभाषा के अनुसार दोष है। व्यक्तिगत अनुभूति की दृष्टि से देखा जाय, तो लेख के इस खंड के ऊपर दी गई टी० एस० इलियट की उक्ति-से कोई छुटकारा नहीं है—कि कविता निजी अनुभूति की युक्ति-अभिव्यक्ति नहीं—वह अनुभूति से मुक्ति है; व्यक्तित्व का प्रकाशन नहीं, व्यक्तित्व से छुटकारा है। यद्यपि जैसा कि इलियट ने कहा है, इनसे छुटकारा पाने का अर्थ वही समझ सकते हैं, जिनके पास अनुभूतियाँ और व्यक्तित्व है।

[ ३ ]

काव्य के लिये महत्व रखनेवाले भावों का अस्तित्व कवि

के जीवन वा व्यक्तित्व में नहीं, स्वय काव्य में होता है। व्यक्तिगत भावों की अभिव्यक्ति प्रत्येक पाठक समझ सकता है, 'टेकनीक' की खूबियाँ भी अनेक पहचान सकते हैं, जब कि काव्य के निर्व्यक्तिक भाव को परखनेवाले व्यक्ति थोड़े ही होंगे। यह कहने से उपर्युक्त स्थापना खण्डित नहीं होती। कला के भाव व्यक्तित्व से परे होते हैं, निर्व्यक्तिक होते हैं। और कवि इन निर्व्यक्तिक भावों का ग्रहण और आयासहीन अभिव्यंजना तभी कर सकता है, जब वह व्यक्तित्व की परिधि से बाहर निकलकर एक महानतर अस्तित्व के प्रति अपने को समर्पित कर सके, अर्थात् जब उसका जीवन वर्तमान क्षण ही में परिमित न रहकर अतीत की परंपरा के वर्तमान क्षण में भा स्पन्दित हो; जब उसकी अभिव्यक्ति केवल उसी की अभिव्यक्ति न हो, जो जी रहा है, बल्कि उसकी भी जो पहले से जीवित है। कवि का जीवन आज में बद्ध नहीं है, वह त्रिकाल-जीवी है।

इन स्थापनाओं से कुछ लोग चौंक सकते हैं। उन्हें लग सकता है कि यह आलोचना का एक नया फैशन भर है, जिसमें सार कुछ नहीं, क्योंकि आधुनिकता केवल परम्परा पर मुँह बिचकाने का ही दूसरा नाम है। इन लोगों से हमारा निवेदन है कि हम परम्परा की अवज्ञा करना तो दूर, परम्परा के महत्व पर आग्रह कर रहे हैं। इस पर आपत्ति किसी को हो सकती है, तो उनको जो परम्परा का अस्तित्व ही मिटा डालना चाहते हैं। यद्यपि होनी उन्हें भी नहीं चाहिए।

हम यह कहेंगे कि हमारी स्थापनाओं पर आपत्ति करनेवाले वे ही लोग होंगे, जो स्वयं अपनी परम्परा से परिचित नहीं हैं—फिर आपत्ति चाहे परम्परा के नाम पर हो, चाहे

प्रगति के। क्योंकि ये स्थापनाएँ ऐसी नई नहीं हैं; हमारे ही शास्त्र का विकाश है। कुप्पी नई है, लेकिन आसव पुराना है।

हमारे आचार्यों ने भी रूढ़ियों के अध्ययन पर जोर दिया है। यह भी उन्होंने माना है कि यद्यपि काव्य का सरोकार सभी मानवीय अनुभूतियों से है, साधारण भी और असाधारण भी, तथापि कला की खोज नूतन, अवर्णित और अज्ञात भावों के लिए नहीं है, जैसा कि देश और विदेश के कई आधुनिक कवि समझते रहे हैं। यह भी उन्होंने प्रतिपादित किया है—प्रत्यक्ष सिद्धान्त के रूप में नहीं, तो अप्रत्यक्ष उपसिद्धान्त के रूप में—कि कला के भाव निरे मानवीय भाव नहीं हैं, वे उन भावों के चमत्कारिक योग से उत्पन्न होनेवाले और उनसे भिन्न तत्व हैं। काव्यानुभूति की नूतनता इस योग की नूतनता है। काव्य का 'रस' कवि में, या कवि के जीवन में, या वर्ण्य विषय या अनुभूति में, या किसी शब्द विशेष में नहीं है, वह काव्य रचना की चमत्कारिक तीव्रता में है।

प्रगति पक्ष से भी आपत्ति हो सकती है कि इस स्थापना द्वारा प्रगति को धक्का पहुँचेगा। लेकिन इस आपत्ति का उत्तर लेख के पूर्वार्ध में है—परम्परा का निकट परिचय उसका अन्धानुकरण नहीं है, बल्कि उसे विकसित करने की तत्परता है।

हम अतीत को मिटाना नहीं चाहते, उसे छोटा भी करना नहीं चाहते; लेकिन हम उसकी दुहाई भी नहीं देते, परास्त होकर उसके आगे झुकते भी नहीं। हम अतीत के प्रति एक नये दृष्टिकोण की माँग करते हैं, वर्तमान में उसके स्थान की

एक नई परिकल्पना करते हैं, हमारे लिए वयस्कता, शैशवावस्था का खंडन नहीं है; उससे सम्बद्ध और प्रस्फुटनशील विकाश का बोध है! हम परम्परा की एक विकसित परिभाषा करते हैं कि वह वर्तमान के साथ अतीत की सम्बद्धता और तारतम्य का नाम है।

# प्रगतिवाद

[श्री शिवदानसिंह चौहान]

'प्रगतिवाद' साहित्य की वह धारा है जो पूँजीवाद के अंतिम काल में उत्पन्न होती है, जो पूँजीवादी साहित्य और कला की सारी कामयाबियों और सजीव परम्पराओं को ग्रहणकर, एक नये जन-साहित्य का निर्माण करती है।

साहित्य की विचारधारा के रूप में प्रगतिवाद का दार्शनिक आधार विरोध-जन्य-गतिशील-भौतिकवाद: वैज्ञानिक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) है। यह कोई नई बात नहीं है जब कि साहित्य की विचारधारा का आधार किसी दार्शनिक सिद्धान्त को बताया गया हो। हिन्दी के भक्ति-काव्य के दार्शनिक आधार अद्वैतवाद, द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद और समन्वयवाद आदि रहे हैं--इसे तो पुराने आलोचक भी स्वीकार करते आये हैं; ये सब दार्शनिक सिद्धान्त आदर्शवादी (Idealist) थे, छाया-वाद का दार्शनिक आधार भी आदर्शवाद ही रहा है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि चूँकि प्रगतिवाद आदर्शवादी दर्शन को अपना आधार न मानकर वैज्ञानिक भौतिकवाद को स्वीकार करता है, इस कारण वर्जित है। यह भी कहना गलत होगा कि चूँकि वैज्ञानिक भौतिकवाद पश्चिम का दर्शन है इस कारण भारतीय चिन्ताधारा में घुल-मिल नहीं सकता, यहाँ की आदर्शवादी मनोवृत्ति को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकता। ऐसा कहने का साफ अर्थ यह होगा कि हम विचारधाराओं, मनोवृत्तियों और परम्पराओं को समाज-व्यवस्था, समाज की कार्यशीलता और गतिशीलता का एक अंग न मानकर उन्हें स्वतंत्र, निरपेक्ष सत्ता

के रूप में देखते हैं। यह गलत है, क्योंकि समाज के परिवर्तन के साथ-साथ समाज की 'मानसिक-संस्कृति' में भी परिवर्तन होते जाते हैं, और आज जब पूँजीवाद की सामूहिक उत्पादन-प्रणाली ने विश्व की साधारण समस्याओं को एक कर दिया है, तब हम 'पूर्व-पश्चिम' 'भारतीय-अभारतीय' कहकर विचारधाराओं, मनोवृत्तियों और सौन्दर्य-मूल्यों देश-काल की संकुचित परिधि में बाँधकर नहीं रख सकते।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि भौगोलिक विशेषता, भाषा और जीवन-यापन की परम्पराओं की विभिन्नता द्वारा उत्पन्न राष्ट्रीय विभिन्नताएँ आज नष्ट हो गई हैं, वे हैं और समाजवाद के अन्दर राष्ट्रीय संस्कृतियाँ और भी विकसित होंगी; तात्पर्य केवल इतना है कि इन राष्ट्रीय संस्कृतियों की मूल प्रवृत्तियाँ (विचार-वस्तु या Content) एक होती जा रही हैं, यद्यपि उसकी अभिव्यक्ति का कलेवर (प्रकार, रूप या Form) राष्ट्रीय रहता है और निश्चय ही वह विश्व भर में साम्यवाद स्थापित हो जाने तक राष्ट्रीय ही रहेगा, उसका विकास राष्ट्रीय माध्यम से होना ही अनिवार्य है और अपेक्षित है। विचार-वस्तु को शुद्ध राष्ट्रीय बनाना न केवल प्रतिक्रियावादी है, बल्कि असंभव भी है। इसके अतिरिक्त सामन्त-युग में भी जब विश्व की व्यापक समस्याएँ एक न हो सकी थीं, और विभिन्न देश अपने अपने कला-साहित्य-संस्कृति-दर्शन के स्वतंत्र अस्तित्व की कल्पना कर सकते थे, उस समय भी भारतीय विचारधारा में बाहर से आये प्रभाव पड़े हैं, और उन्हें अपनाया गया है—उदाहरण के लिए सूफियों के सिद्धांतों का हमारे भक्ति-काव्य पर कितना व्यापक प्रभाव पड़ा है, इसे सभी जानते हैं। किंतु पहले यदि बाहरी विचारधाराएँ हमारी प्राचीन विचार-धाराओं में घुल-मिल जाती रही हैं--अर्थात् उनका समन्वय होता रहा है, तो इससे यह निष्कर्ष निकालना

कि चूँकि वैज्ञानिक भौतिकवाद उनमें उसी प्रकार घुल-मिल नहीं सकता अतः वह भारत को स्वीकार्य न होगा, भ्रमपूर्ण है, क्योंकि पहले समन्वय इसलिए संभव था कि दोनों विचार-धाराएँ आदर्शवादी थीं। आज इसलिए असंभव है कि एक आदर्शवादी है और पूँजीपति-वर्ग का शोषण कायम रखने का अस्त्र है, तो दूसरी भौतिकवादी है और पूँजीवादी शोषण का नाश करने का अस्त्र है। भौतिकवादी विचारधारा स्वयं मनुष्य के सम्पूर्ण अनुभव का समन्वित रूप है, अतः आदर्शवाद का भी यथार्थ तत्त्व उसमें समाहित है और वह द्वंद्वात्मक तर्क-प्रणाली में ढलकर वैज्ञानिक रूप में निखर सकता है। प्रगतिवाद वैज्ञानिक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) को इसलिए स्वीकार करता है कि समाज-शक्तियों, आधुनिक जीवन की संश्लिष्ट समस्याओं, समाज की संघर्षपूर्ण गति-विधि और उसकी भावी प्रगति को समझने का वह न केवल सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक दर्शन है, बल्कि समाज की नष्ट समतुल्यता को एक ऊँचे धरातल पर (समाजवादी समाज में) कायम करने के लिए समाज को बदलने की वह एकमात्र कार्य-प्रणाली भी है। आदर्शवादी दर्शन में समाज की असंगतियों को क्षण भर के लिए दबाने या उन पर पर्दा डालकर वस्तु-स्थिति से हमारी दृष्टि से हटाने की ही क्षमता है। इस कारण आज वह प्रतिगामी है, और आधुनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करता। वह इन आवश्यकताओं की चेतना न देकर उनके प्रति हमें अनभिज्ञ रखता है।

आलोचना-क्षेत्र में प्रगतिवाद साहित्यक-रचना-क्रिया को 'मैं' से संबंधित कर उसे सीमित नहीं बनाता, अर्थात् उसे व्यक्ति के अन्य कार्यों की तरह 'मैं' की ही सृष्टि नहीं मानता, बल्कि उसे रोमैण्टिक काल के आलोचकों, जैसे वर्ड्सवर्थ, कोलरिज, शेली की तरह समाज से संबंधित

करता है, अर्थात् यह मानता है कि साहित्य के मूल में 'मैं' की नहीं वरन् 'हम' की भावना है। क्योंकि साहित्य समाज की गतिशीलता की अभिव्यक्ति होने के कारण, मनुष्य में एकत्व की भावना की उद्‌भावना करनेवाला और सामाजिक कार्यशीलता के लिए उसे उत्प्रेरित, संगठित करनेवाला होता है। इस प्रकार प्रगतिवाद साहित्य को व्यक्ति के मस्तिष्क की अनेक रूपात्मक क्रिया-प्रतिक्रिया से ही अथवा एक अस्पष्ट, अव्यक्त, अमूर्त्त प्रकार के समाज से, जिसका मानो वह अभिन्न अंग न होकर उससे अलग चीज हो, संबंधित नहीं करता। अपने काल की ऐतिहासिक परिस्थितियों में बँधे रहने के कारण रोमैंण्टिक आलोचकों ने यद्यपि साहित्य को समाज से संबंधित किया था, किन्तु उनका समाज एक अमूर्त्त सत्ता थी। तो भी रोमैण्टिक आलोचना ने अत्यंत उपयोगी स्थापनाएँ की थीं। 'सामाजिक संबंध ही कला में सौन्दर्य का गुण प्रदान करते हैं। इन संबंधों में एक आंतरिक संघर्ष और आन्तरिक विरोध है, जिन्हें कला के अन्दर शांत किया जाता है।' 'कविता अत्याचार और अन्याय के विरुद्ध मानवता की वाणी है और हर कवि का कर्त्तव्य है कि वह अत्याचार और अन्याय को खत्म करने में अपना सहयोग प्रदान करे'—आदि रोमैण्टिक आलोचना के मूल सिद्धान्तों को जिन्हें टी० एस० इलियट, हर्बर्ट रीड और डा० रिचार्ड्स प्रभृति पूँजीजीवी आलोचक छिपा रहे हैं या विकृत कर रहे हैं, प्रगतिवाद उपयोगी और आवश्यक मानता है और उसके समाज-संबंधी विचार को एक भौतिक आधार प्रदान करता है—साथ में समकालिक परिस्थितियों से उत्पन्न रोमैण्टिक आलोचकों के व्यक्तिवाद और आदर्शवाद को, जिसने शेली को Masque of Anarchy में गांधीजी के आत्मबल और अहिंसा के सिद्धांतों की पूर्व-कल्पना करा दी, या कोलरिज को कंजरवेटिव और धर्म-

भीरु और वर्ड्सवर्थ को शासक वर्ग का समर्थक बना दिया, प्रगतिवाद स्वीकार नहीं करता। जिस तरह मार्क्स ने हीगल के विरोधजन्य गतिशीलता के सिद्धान्त Dialectic को सिर के बल खड़ी हालत से उलटकर पृथ्वी पर पैर के बल खड़ा कर दिया था; उसी प्रकार साहित्य की आलोचना के क्षेत्र में प्रगतिवाद रोमैण्टिक आलोचना की कामयाबियों को स्वीकार कर, उनका विकास कर, उन्हें एक सामाजिक, भौतिक आधार प्रदान करता है। प्रगतिवाद में वह 'हम' जिससे साहित्य का संबंध स्थापित किया जाता है, रोमैण्टिक आलोचकों की तरह अव्यक्त मानवता का 'हम' न होकर, अथवा टी० एस० इलियट आदि द्वारा विकृत किये जाने पर पूँजीवाद के समर्थकों का संदिग्ध 'हम' न होकर संघर्ष-रत शोषित मानवता का 'हम' बन जाता है। इस प्रकार प्रगतिवाद के अनुसार साहित्य चिर-परिवर्तित समाज-व्यवस्था का एक अंग है; और साहित्य का सौन्दर्य-मूल्य इसी में निहित है कि किसी विशेष प्रकार के कार्य के लिए वह सामाजिक शक्ति का संगठन करता है। सामाजिक शक्ति के संगठन में परस्पर विरोधी शक्तियों का जो संघर्ष होता है, साहित्य उनका सजीव चित्रण कर यह स्पष्ट कर देता है कि उसमें वह सक्रिय रूप से भाग ले रहा है, और यह कि वह सामाजिक संगठन एक स्थिर वस्तु नहीं है, बल्कि गतिमान और परिवर्तनशील है।

अतः प्रगतिवाद यदि किसी लेखक के सामाजिक सूत्रों को प्रकाश में लाता है अर्थात् उन सामाजिक परिस्थितियों का विश्लेषण करता है जिन्होंने लेखक के मस्तिष्क को एक विशेष प्रकार से प्रभावित कर अपनी रचना के लिए प्रभावित किया तो प्रगतिवाद उस रचना द्वारा समाज की बदलती परिस्थितियों पर पड़े प्रभावों का भी मूल्यांकन करता है। सामाजिक परिस्थितियों

का विवेचन जिस प्रकार लेखक की रचना, उसकी अभिव्यक्ति के विशिष्ट उपकरणों—व्यंग, प्रतीक, उपमाएँ, रूपक और शैली आदि—की सामाजिक पृष्ठभूमि का दिग्दर्शन कराता है, अर्थात् इस तथ्य का स्पष्टीकरण करता है कि लेखक की रचना में समाज की वास्तविकता किस प्रकार प्रतिबिम्बित हुई है, उसी प्रकार वह परिवर्तित सामाजिक वास्तविकता की अपेक्षा में रखकर उसकी सौन्दर्य-शक्ति का भी मूल्यांकन करता है। साहित्य या कला कोई कृति अपने समय की सामाजिक वास्तविकता का निष्क्रिय प्रतिबिम्ब मात्र ही नहीं होती, जिस प्रकार आईने में पड़ा प्रतिबिम्ब होता है, बल्कि वह समाज या मनुष्य के 'अहं' (भाव-चेतना) का परिवर्तित परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रभाव डालकर परिष्कार भी करती है अर्थात् उसे बदलती रहती है। इसी कारण उस रचना का सौन्दर्य या मूल्य सामाजिक परिस्थितियों की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है। इस सिद्धान्त को हृदयंगम करना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा एकांगी दृष्टिकोण आदर्शवाद का जिसके अनुसार साहित्य या कला का सौन्दर्य-तत्त्व एक निरपेक्ष गुण बन जाता है, अथवा कुत्सित समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण (यांत्रिक भौतिकवाद) का जिसके अनुसार किसी रचना का सौन्दर्य या मूल्य सामाजिक वास्तविकता के सीधे, स्पष्ट चित्रण पर ही निर्भर करता है, आखेट बन जाता है, और यह न प्रगतिवाद है न भौतिकवाद। मार्क्स ने भी इन दोनों दृष्टियों से एक साथ ही किसी रचना का विवेचन करने की आवश्यकता पर जोर दिया था। प्रगतिवादी समीक्षा के सामने केवल यही प्रश्न नहीं रहता कि अमुक रचना किस युग की उपज है, सामंती या पूँजीवादी,—मार्क्स ने ग्रीक साहित्य पर विचार करते हुए स्पष्ट रूप से कहा है कि यह तो अपेक्षाकृत सरल कार्य है—बल्कि उसके सम्मुख यह प्रश्न भी रहता है कि अमुक रचना की सौन्दर्य शक्ति का क्या कारण है,

अर्थात् वह रचना आज भी क्यों सौन्दर्य बोध कराने में सफल है, आज भी वह हमारे रागों को जगाने में, हमारे संवेदनों को झंकृत करने में क्यों उतनी ही सशक्त है, जितनी शताब्दियों पूर्व थी। प्रगतिवाद इन दोनों भौतिक प्रश्नों का उत्तर किसी रचना की सामाजिक पृष्ठभूमि और सामाजिक जीवन पर पड़े उसके प्रभाव के इतिहास का विवेचन करके देता है।

प्रगतिवाद की शैली अभिव्यंजनावाद, रीतिवाद अथवा फोटोग्रैफिक यथार्थवाद की शैली नहीं है। क्योंकि प्रगतिवाद का जीवन के प्रति जो विशिष्ट दृष्टिकोण है—जिसका जिक्र हम ऊपर कर चुके हैं—उसकी अभिव्यक्ति इन पुरानी शैलियों द्वारा नहीं हो सकती। वे जीवन और समाज को उसके सम्पूर्ण गतिशील रूप में अभिव्यक्ति नहीं दे सकतीं। अतः प्रगतिवाद की शैली सामाजिक यथार्थवाद—समाजवादी यथार्थवाद और सामाजिक यथार्थवाद दोनों एकार्थक हैं—और सामाजिक रोमैन्टिसिज्म की शैली है (Socialism, Realism and Social-Romanticism) इसका यह अर्थ नहीं कि प्रगतिवादी साहित्य 'व्यक्ति' का उसके जीवन के नाना पहलुओं से चित्रण नहीं होगा—चित्रण होगा, होना चाहिए, किन्तु किसी व्यक्ति विशेष के विकास को दृष्टि में रखकर ही समाज की गति का चित्रण न होगा, क्योंकि ऐसा होने का अर्थ हुआ कि 'व्यक्ति' या तो समाज की वस्तु-स्थिति से संतुष्ट या असंतुष्ट होता है, विकास पाता है या उसका विकास अवरुद्ध होता है या बहिष्कृत किया जाता है, आदि भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से उसका चित्रण किया जाय—और इस सबका अर्थ यह हुआ कि समाज की प्रत्येक वस्तु अपरिवर्तनशील है, स्थिर है अतः उसे ज्यों का त्यों स्वीकार करना चाहिए। यह प्रगतिवाद नहीं हुआ। प्रगतिवादी साहित्य का व्यक्ति ऐसा होगा जो समाज की गति का सक्रिय अनुभव करता है, समाज के उत्पादन के

साधनों में होनेवाले परिवर्तनों के अनुरूप समाज के अन्य अंगों में जो परिवर्तन होते हैं, अपने कार्यों में उनसे उत्पन्न पुरानी और नई शक्तियों के संघर्ष और तनाव का अनुभव करता है, क्योंकि समाज की मूल प्रेरणा सामाजिक कार्य और समाज की गति है, व्यक्ति नहीं। अतः प्रगतिवाद सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न अंगों की विभिन्न, परस्पर विरोधी अवस्थाओं का, समाज के संगठन और उसकी विशृंखलता का; और पुरातन और नूतन के संघर्ष की अभिव्यंजना करेगा।

प्रगतिवाद साहित्य की विचार और भाव-वस्तु (Content) और उसके अनुरूप ही वस्तु-प्रकाशन की विधि, रूप-विधान शैली (Form) दोनों पर समान रूप से जोर देता है। समाज के परिवर्तन में नूतन और पुरातन, समाजवाद और पूँजीवाद, मजदूर और पूँजीपति, विज्ञान और अंधविश्वास के अंदर जो संघर्ष चल रहा है, उसमें लेखक की रागात्मक सहानुभूति सामाजिक क्षेत्र में किन शक्तियों और मानसिक क्षेत्र की किन विचार-धाराओं के साथ है, इसका अनुमान हम उसकी रचना की विशिष्ट भाव और विचार-वस्तु तथा सामाजिक वस्तु से लगा सकते हैं, क्योंकि किसी विशेष रागात्मक सहानुभूति से उत्प्रेरित होकर ही वह किसी विशेष समाज-वस्तु का चित्रण करता है—और यह समाज-वस्तु क्या है उसके प्रति लेखक का रागात्मक संबंध किस प्रकार का है, इससे ही उसके दृष्टिकोण, उसकी अभिव्यक्ति की प्राण-शक्ति और विस्तार का निश्चय होता है। यदि लेखक अपने समय की उन समाज-शक्तियों के साथ रागात्मक सहानुभूति प्रकट करता है जो समाज की प्रगति की अवरोधक है, अथवा यदि वह समाज को ज्यों का त्यों स्वीकार करके अपने को समाज-संघर्ष से ऊपर (Above-Battle) बनाने की व्यर्थ चेष्टा करता है, तो इससे उसका दृष्टि-

कोण और अभिव्यक्ति दोनों ही संकुचित, क्षीण और निःशक्त होंगे। किन्तु यदि वह उन शक्तियों के साथ अपनी रागात्मक सहानुभूति का अनुभव करता है, जो समाज को बदलने में सबसे अधिक क्रियाशील है, जैसे श्रमिक-कृषक-वर्ग या समाजवाद की शक्तियाँ, तो वह न केवल जीवन को एक व्यापक दृष्टिकोण से देख सकेगा या उसकी अभिव्यक्ति की प्राण-शक्ति तीव्र होगी, बल्कि वह समाज में नये जीवन की उद्भावना और विकास का अनुभव भी प्राप्त कर सकेगा, जिससे उसकी कला जनता से प्राण-संबंधित हो सकेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि आज के लेखक को, यदि वह समाज की प्रगति का अंग बनना चाहता है तो समाज की शक्तियों, उनके कार्यों, उनकी विचार-धाराओं से पहले परिचय प्राप्त करना चाहिए, और स्वयं उसे सामाजिक निर्णय कर अपना दृष्टिकोण निश्चित कर लेना चाहिए। उसकी रचनाओं में इस दृष्टिकोण की जो कलात्मक अभिव्यक्ति होगी, वही उनकी विचार-वस्तु होगी। समाज की आवश्यकताओं की पूर्व-चेतना से ही सच्चे प्रगतिवादी साहित्य की सृष्टि हो सकती है, उनकी अनभिज्ञता से नहीं।

अतः प्रगतिवाद, लेखक या कलाकार के सामने 'दृष्टिकोण' का प्रश्न उठाता है। हम विभिन्न रूपात्मक समाज-संबंधों, सामाजिक वर्गों, राग-द्वेष उत्पन्न करनेवाली परम्पराओं और रूढ़ियों, स्त्री-पुरुष के प्रेम-संबंधों के प्रति जो दृष्टिकोण रखते हैं वह प्रगतिशील है अथवा रूढ़िवादी, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक प्रश्नों पर हमारा दृष्टिकोण प्रगतिशील है या संकुचित, यह सब जटिल गुत्थियाँ प्रगतिवाद के लिए महत्त्व रखती हैं। प्रगतिवाद स्वभावतः शोषित मानवता का सांस्कृतिक दृष्टिकोण होने के कारण इन प्रश्नों पर अपना विशेष मत रखता है। प्रगतिवादी कलाकार अपनी रचनाओं में इसी 'दृष्टिकोण' को

अभिव्यक्ति देते हैं। प्रगतिवाद के नये दृष्टिकोण के अनुरूप ही उसकी अभिव्यक्ति भी होती है। प्रगतिवाद की विचार-वस्तु (Content) और रूप-विधान (Form) का समुचित समन्वय 'सामाजिक यथार्थवाद' (Social Realism) की धारा में होती है। अतः 'सामाजिक यथार्थवाद' (Social Realism) की धारा ही साहित्य में प्रगतिवाद है।

प्रगतिवाद के विरुद्ध आज हिन्दी-साहित्य के कतिपय क्षेत्रों में जो प्रतिक्रिया हुई है वह बे माने नहीं है, महत्त्वपूर्ण है। इन क्षेत्रों का लेखक-अलेखक-वर्ग प्रगतिवाद से आशंकित हो उठा है। साम्राज्यवादी प्रेस-ऐक्टों, विचार-स्वातंत्र्य पर लगाये गये बंधनों से यह साहित्य-वर्ग कभी उतना आशंकित नहीं हुआ जितना प्रगतिवाद से हो रहा है, यह उल्लेखनीय है। मेरा अपना विचार है कि इस आशंका के पैदा होने के दो-तीन स्थूल कारण हैं। पहला तो यह कि हमारे अधिकांश लेखकों को समाज-शक्तियों की गतिविधि का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं है, और अभी तक उनमें समाज की आवश्यकताओं की चेतना उत्पन्न नहीं हुई है; और अभी तक उनमें समाज की चेतना नहीं है, अतः पूँजीवादी भ्रमों से अपना मानसिक भोजन पानेवाला हमारा यह लेखक-वर्ग अज्ञानतावश प्रगतिवाद से आशंकित हो उठा है। दूसरा कारण इससे मिलता-जुलता यह है कि पुराने समाज की विचार-धाराओं में पलने के कारण यह लेखक-समुदाय समाज को ज्यों का त्यों स्वीकार करने का आदी हो गया है कि नई शक्तियों, नई हलचलों और विचार-धाराओं का अध्ययन करने, उन्हें समझने या जानने की वह कोशिश ही नहीं करता, (प्रगतिवाद के नाम पर जिन उच्छृंखल विचारों का प्रचार हो रहा है और प्रगतिवाद के विपक्ष में जो भ्रम फैलाये जा रहे हैं 'भारतीय संस्कृति खतरे में है' की जो क्षीण किन्तु विक्षिप्त आवाज उठाई जा रही है, और प्रगतिवाद पर

कल्पित आक्षेप लगाकर उसे हेय सिद्ध करने का जो प्रयत्न हो रहा है, वह दोनों ओर की अज्ञानता का द्योतक है) और चूँकि मौजूदा समाज-व्यवस्था हमारे लेखक-वर्ग को जीवन में निश्चिंतता प्रदान नहीं करती और नई समाज-शक्तियों के साथ वह अज्ञानतावश सहयोग नहीं कर पाता, इस कारण प्रगतिवाद के विकास के साथ-साथ वह अपने को आउट-आफ-डेट महसूस करता जा रहा है, और इस आउट-आफ-डेट की भावना का मूल कारण न समझने के कारण वह समझता है कि प्रगतिवाद अवसर से लाभ उठाकर उसे आउट-आफ-डेट बनाना चाहता है; और स्वयं प्रतिष्ठित होना चाहता है। इसी कारण हमारा यह संक्षिप्त, लेखक-वर्ग प्रगतिवाद से और भी ज्यादा आशंकित है।

किन्तु यदि हमारे इस लेखक-वर्ग को समाज की आवश्यकताओं की चेतना प्राप्त नहीं है, अथवा यदि वह अब कुछ जानने-समझने का कष्ट नहीं उठा सकता, तो इससे प्रगतिवाद से आशंकित होना और उसका विरोध करना न्याय्य नहीं हो जाता; इस लेखक-अलेखक-वर्ग को कम से कम इतना तो देखना चाहिए कि हिन्दी के उच्चतम कलाकार प्रगतिवाद को किसी न किसी रूप में अपना रहे हैं, किसी अवसरवाद के कारण नहीं वरन् अपने जीवन के कठोर अनुभव से जगी नई चेतना की प्रेरणाओं से। इस वर्ग के लिए केवल इतना जान लेना ही उनको आत्मपीड़न से मुक्ति दिला सकेगा।

——

# चहचहाता 'चिड़ियाघर'

[श्री हरिशंकर शर्मा]

स्वप्न के सुखमय संसार में, विश्व के विचित्र अद्भुतालय की—वाणिज्य-विलास, शिल्प-शाला, धर्म-धाम, समाज-सदन, राजनीति-निकेतन, अकिञ्चन-कुटीर, मजदूर-मञ्जिल आदि—संस्थाएँ देखते देखते, जब जी ऊब उठा, तो अपने राम सीधे साहित्योद्यान की ओर सिधारे, और सोचने लगे कि चलो, इस शुष्कवाद के जलहीन जलाशय से निकलकर सरसता के सुन्दर सरोवर में स्नान करें; झक्कड़ता के झाड़-खण्डों को झाड़कर सहृदयता के सुखद सुमनों की सुगन्ध सूंघें। अहा ! साहित्योद्यान का सुहावना द्वार देखने ही योग्य था। उनकी सुन्दर सुषमा का विशद वर्णन करने के लिए कवि-कुल-कैरव-कलाधर कालिदास की वरद वाणी चाहिए। क्या पूछते हो। साहित्योद्यान का दिव्य द्वार देखकर अपने राम चित्र-लिखेसे रह गये। आँखें ठगी-सी ठिठक रहीं !! चित्त चुपके-से चिपक गया !!! पैरों ने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। इतने ही में उद्यान का अधिकारी आकर बोला—

"देखना है तो आगे बढ़ो, नहीं तो दरवाजा बन्द होता है।"

मैंने कहा—"फीस ?"

"फीस-वीस कुछ नहीं, केवल सहृदयता का 'सार्टीफिकेट' साथ रखिए। अच्छा, यह तो बताइए, पहले आप इस विशाल बाग के किस भाग की सैर करेंगे।"

"मैंने यह बाग पहले कभी नहीं देखा, इसलिए समझ में नहीं आता कि आपके इस सवाल का क्या जवाब दूँ।"

"अच्छा, बढ़िए आगे, और जो इच्छा हो सो देखिए।"

यह कहकर उस आदरणीय अधिकारी ने मुझे प्रधान द्वार द्वारा अन्दर पहुँचा दिया। अजीब नजारा था; अद्भुत दृश्य दिखाई देता था; गुल्म-लता, तरु-वल्लियों की असीम शोभा का ठिकाना न था। सुहावने वृक्षों और सुन्दर सुमनों की अपूर्व छटा मन को मुग्ध कर रही थी। कोयलों की कू कू और कबूतरों की गुटरगूँ ने 'समाँ' बाँध रखा था। जगह-जगह जलाशय भरे हुए थे, झरने झर रहे थे, नाले वह रहे थे और सोते हिलोरें मार रहे थे। जिधर निगाह उठती थी, उधर ही आनन्द का आधिपत्य दिखाई देता था।

उद्यान के अन्दर घुसते ही सामने एक चहचहाता 'चिड़िया-घर' दिखाई दिया। मेरे हर्ष का ठिकाना न रहा! खुशी का खजाना मिल गया! आनन्द की गंगा उमड़ पड़ी!! अन्धे को आँखें प्राप्त हो गईं। चलो, पहले इस चहचहाते चिड़ियाघर की ही सैर करें, इसी की वर विचित्रता से अपने अतृप्त नयनों को तृप्त करें। पाटिया (साइनबोर्ड) पर नागरी लिपि में कितने सुन्दर अक्षर लिखे हुए हैं, कैसा कौशल दिखाया गया है। साथी ने कहा—"अच्छा, आगे बढ़िए। देखिए, इस कमरे में हिन्दी का इतिहास सुरक्षित है; उसमें पुरानी लिपियों और शिलालेखों का संग्रह किया गया है। ठीक, परन्तु इन सब बातों को सोचने-समझने के लिए, न अपने राम के पास ओझाजी का हृदय है और न उनका मस्तिष्क! चलो, और आगे बढ़ो।"

अच्छा! यह दूसरा कमरा है। इसमें चन्द वरदायी से लेकर भारतेन्दु तक के समस्त साहित्य-सेवियों की स्वर्गीय आत्माएँ, अपनी-अपनी कृतियों पर अटल आसन जमाये विराजमान हैं।

"और आगे बढ़ो भाई, यह तो फुरसत में देखने की चीजें हैं। एक एक का अवलोकन करने के लिए महीनों और वर्षों चाहिए।"

अच्छा, यह कमरा क्या है? ओ हो! इसमें सम्पादकों के पिंजड़े रक्खे हैं। वाह! यह बहार तो देखने ही लायक है। किसी की दुम से दावात बँधी हुई है और कोई कान पर कलम रक्खे कूद रहा है। किसी के पैरों में पिनों की पैजनियाँ पड़ी हैं तो कोई पेंसिल को पंजों में दबाये डोलता है। किसी की कैंची कयामत ढा रही है तो कोई पोथियों का पुलन्दा चोंच में दबाये घूमता-फिरता है। कोई पंछी पिंजड़े में पड़ा गरूर से गुर्रा रहा है और कोई बेचारा हाथ जोड़कर 'हा-हा' खा रहा है। क्या ही विचित्र दृश्य है! कैसा अजीब तमाशा है!!—अच्छा, इन पिञ्जर-बद्ध पक्षियों के कमरे के आगे क्या है? संवाददाताओं का सन्दूक, लेखकों का पिटारा, ग्रन्थकारों की गठरी, समालोचकों की टोकरी और व्याख्याताओं का बंडल। अच्छा, इस गद्य-गली को छोड़िए, पीछे वापसी में देखेंगे, पहले पद्य-प्रासाद की ओर चलें—उसकी रंगत देखें।

ओहो! यह है पद्य-प्रासाद! इसमें तो भाँति-भाँति के कवि-कारण्डव और काव्य-कपोत किलोल कर रहे हैं। दूर-दूर के पद्य-प्रिय पक्षी प्रस्तुत हैं। यहाँ पखेरुओं के पंख-प्रदर्शनों से खूब आनन्द आता होगा, बड़ी रौनक रहती होगी। अजी जनाब! रौनक की क्या पूछते हो, 'बहिश्त' सी दिखाई देती है। फिर आज तो इन कवियों का बहुत बड़ा सम्मेलन होनेवाला है, खूब 'चोंच-भिड़न्त' होगी। जरा देखना तो सही, कैसा मजा आता है। हाँ, हजरत! हमारे लिए तो यह बिलकुल ही एक नई बात होगी। अभी साढ़े तीन बजने में पन्द्रह मिनट बाकी हैं। अच्छी बात है,

आइए, इस घास पर बैठ जायँ और तीन-चार घण्टे इस काव्य-कौतुक का आनन्द लूटें।

ठीक साढ़े तीन बजे कवि-सम्मेलन शुरू हुआ। सभापति का आसन गद्य-पद्याचार्य गुरुवर गरुड़देव ने ग्रहण किया। आपने अपने भावपूर्ण भाषण के अन्त में कहा--"महाशयो, सौभाग्य से इस पद्य-प्रासाद में विविध प्रकार की बोलियाँ बोलनेवाले कृत-विद्य कविवर उपस्थित हैं। सबको समान रूप से चहकने-चटखने और चहचहाने का मौका दिया जायगा। बढ़िया बोलने-वालों को सोने-चाँदी की पैंजनियाँ पहनाई जायँगी और कण्ठ में कलाबतून के कण्ठे डाले जायँगे। देखना, गम्भीरता और सभ्यता हाथ से न जाने पावे।"

इतने ही में कतिपय 'साहित्य-ठूँठों' ने अपनी विद्वत्ता का बखान करते हुए, सभापति के सारगर्भित भाषण पर बड़बड़ाहट शुरू की। कर्ण-कटु काँव-काँव मचाई!--अपनी प्रतिभा की प्रचण्डाग्नि से काव्य-कलिका को झुलसाना चाहा। गुरु गरुड़जी के गौरव-गुलाल पर गन्दगी के गट्ठर गिराने की चेष्टा की। गुबरीला पद्म पर प्रभुता पाने का प्रयास करने लगा और स्यार सिंह पर दुलत्ती झाड़ने को समुत्सुक हुआ! परन्तु सब निष्फल! सब व्यर्थ!! उपस्थित कवि-वृन्द ने, सारे 'साहित्य-ठूँठों' का ठाठ बिगाड़ दिया; बोलती बन्द कर दी, जिससे फिर उन्हें अनर्गल आलाप करने का हौसला ही न हुआ।

हाँ, तो सबसे पहले सभापति जी के आदेशानुसार, प्रार्थना-पन्थी कवि कंकजी ने अपनी कविता सुनानी शुरू की। आपके खड़े होते ही पंखों की फड़ाफड़ और तुण्डों की तड़ातड़ से गगन-मण्डल गूँज उठा। आपने आँखें मींच और गला भींचकर नीचे लिखे पद्यों का पाठ प्रारम्भ किया--

अखिलेश, सर्वेश, प्रजेश पालकम्,
विश्वेश, कुल्लेश, कलेश घालकम्।
मोटर, घड़ी, इंजन आदि चालकम्,
विपत्ति, संकट्ट विकट्ट टालकम्॥

× × ×

रघुराज ब्रजराज गणेश गौरी।
श्री............

यहाँ सभापति श्री गरुड़देव जी ने कवि को रोक कर कहा—"महाशय! आप अपनी कविताएँ सुनाते हैं या 'विष्णुसहस्रनाम' का पाठ करते हैं? काव्य-कानन में किलोल करने आये हैं या साम्प्रदायिकता की सड़क पर सपाटे भरने चले हैं?" इस पर कवि कंकजी अप्रसन्न हो गये और क्रुद्ध होकर कहने लगे—

"जब तक मेरी 'प्रार्थना-पंचशती' समाप्त न हो जायगी तब तक आगे न बढ़ूँगा।" अस्तु, सभापति जी के आदेशानुसार आपको बैठ जाना पड़ा।

कवि कङ्कजी के प्रस्थान करते ही रसराज-रसिक केकी-कविजी की कुलबुलाहट प्रारम्भ हुई। आपकी अदा निराली थी। कभी नाक पर हाथ रखते थे, कभी कर से कमर टटोलते थे। कभी लचकते थे, कभी मचकते थे। कभी फुदकते थे, कभी कुदकते थे। कभी भृकुटी के भाले चलाते थे, कभी कटाक्ष का कारतूस छोड़ते थे। आपने अपने रंग में अद्भुत आलाप करते हुए कहा—

कामिनी-कबूतरी के कलित कलेवर को,
देख-देख पंछियों के पंख झड़ जाते हैं।
श्वेत बक-वृन्द की तो बात ही न पूछो कुछ,
काले-काले कौए भी पिछाड़ी पड़ जाते हैं॥

उद्धत उलूक खोजते हैं रात भर उसे,
गिद्ध 'धृष्टनायक' की भाँति।अड़ जाते हैं।
आँख, नाक, चोंच, पंख, पग प्रतियोगिता में,
कवियों के सारे उपमान खड़ जाते हैं॥

केकी कवि की इस शृंगारमयी कविता से सारे कवि-समाज में हलचल मच गई, चारों ओर से 'अश्लील'! 'अश्लील'!! की आवाजें आने लगीं। सैकड़ों कबूतरियाँ कवियों को कोसती हुई उड़न्छू हो गईं! शोक! "देवियों का ऐसा निरादर! इतना अपमान!! बन्द करो इस कुत्सित कवि-सम्मेलन को, रोको ऐसी गन्दी गढ़न्त को, मत बकने दो इस प्रकार की बेजोड़ बातें"—यही चर्चा सब ओर सुनाई पड़ रही थी।

बड़ी कठिनाई से प्रेसीडेण्ट मिस्टर गरुड़देव ने शान्ति स्थापित की और बड़े बलपूर्वक कहा—"आगे से ऐसी बेहूदी और अश्लील कविताएँ कोई न सुनावे। हाल ही में इस प्रकार के असह्य व्यवहार से श्रीमती कपोत-कान्ताओं को मर्मान्तक वेदना पहुँची है, जिससे हमें भी बड़ा दुःख है, और होना ही चाहिए। आशा है आगे ऐसा स्वेच्छाचार न होगा।"

इसके पश्चात् धर्मध्वजी कवि बगुला-भक्तजी उठे। आपके शब्द शब्द में साम्प्रदायिकता की सनक और कट्टरता की कड़क दिखाई देती थी। सबसे प्रथम आपने डबडबाती हुई आँखों और गिड़गिड़ाती हुई वाणी से धर्मप्राण श्रोताओं से अपील करते हुए नीचे लिखी कविता पढ़ी—

छूत-छात छोड़ना न भूल करके भी भाई,
पतितों अछूतों को न उठने-उठाने दो।
विधवा-विवाह करना है घोर पाप इसे,
कर्मवीर! कभी कल्पना में भी न आने दो॥

बिछुड़े हुओं को अपनाना नीचता है निरी,
ऐसी अवनति का न हुल्लड़ मचाने दो।
धर्म को विसार कर जाति को जिलाओ मत,
कल्ल मरती हो उसे आज मर जाने दो॥

वृद्ध वशिष्ठ बगुलाभक्तजी की कविता से सभा-मण्डप में हर्ष-विषाद का तुमुल युद्ध छिड़ गया। सुधारक दल का कोप-कोदण्ड तन गया किन्तु कट्टरपन्थियों ने खुशी के नगाड़े पीटने शुरू किये। सुधार और बिगाड़ के बीच खूब 'कुड़ुम धूँ' हुई। चोंचों की चें चें और पंखों की फड़फड़ाहट ने विश्रान्त वायु-मंडल विलोड़ित कर दिया। गरूड़देव फिर उठे और अपने भाषण के आकर्षण से, येन केन प्रकारेण, बड़ी कठिनतापूर्वक शान्ति स्थापित करने में समर्थ हुए।

थोड़ी देर बाद सुधारक-दल के कवियों ने फिर राम-रौला मचाया और सभापतिजी से बड़े आग्रहपूर्वक कहा—"अब की बार सुधारों के आधार और उन्नति के अवतार प्रसिद्ध समाज-संशोधक कविवर काककिशोरजी को कविता पढ़ने का अवसर दिया जाय।" 'अवश्य दिया जाय', 'जरूर दिया जाय', 'फौरन दिया जाय', 'जी खोलकर दिया जाय', 'क्यों न दिया जाय?' को आवेशपूर्ण ऊँची आवाजों ने गरुड़ गोविन्दजी को मजबूर कर दिया, और उनकी आज्ञा से कविवर काककिशोरजी ने नीचे लिखी कविता सुनानी शुरू की—

छूत छात का भूत भगाकर, सबके सँग खा लेंगे हम।
उन्नति की घुड़दौड़ मची है, पीछे नहीं रहेंगे हम॥
विधवाओं के व्याह करेंगे, बिछुड़ों को अपनावेंगे।
जात-पाँत का तन्तु तोड़कर, एक भाव दरसायेंगे॥

"बैठ जाइए ! बैठ जाइए !! विश्व-विनाशक विषैले वायु से इस विशुद्ध वातावरण को विषाक्त न बनाइए, बैठ जाइए ! इन तरक्की के तरानों को सुनकर कानों के परदे फटे जाते हैं, हिम्मत-बारों के हौसले घटे जाते हैं; धर्म-प्राणों के पर कटे जाते हैं; बैठ जाइए !" निदान कट्टर कवियों की 'काँव-काँव' ने काक कवि का कचूमर निकाल दिया। कविता की कमर तोड़ दी। फसाहत की फरिया फाड़ दी। विरोध का बेडौल बवंडर देखकर बेचारे काक कवि अपना-सा मुँह लेकर अवाक् बैठ गये।

सभापति श्री गरुड़देव जी बोले—"महाशयो ! मैं पहले ही कह चुका हूँ कि आप लोग कमनीय काव्य-कानन को छोड़कर सम्प्रदायवाद के बीहड़ वन में न भटकिए, साहित्य-संलाप त्याग-कर मत-पन्थों से न अटकिए। इससे सभा में अत्यंत असंतोष और असीम असद्भाव उत्पन्न होता है। समाज-सुधार का स्थान यह नहीं है; उसके लिए आपको संशोधक संस्थाओं से सहायता प्राप्त करनी होगी। आशा है, आगे जो कविजन अपनी कविताएँ सुनावेंगे, उनमें ऐसी वाहियात बातें न आने पावेंगी। अस्तु, प्रसिद्ध देशभक्त श्रीयुत कीर कवि जी अपनी रचना सुनावेंगे, आप लोग ध्यानपूर्वक सुनेंगे।" इसके पश्चात् स्वतन्त्रता-सेवी श्रीयुत कीर कवि ने दृग दमका तथा चोंच चमकाकर नीचे लिखी रागिनी रागी—

आजाद हो हमारा हिन्दुस्तान यारो,
मिल-जुल के देशवासी, ऐसी सुविधि विचारो।
सब जेल में सड़ो तुम, हक के लिए लड़ो तुम;
आपत्ति में पड़ो तुम, पर कौम को उबारो।
खुश होके मार खाओ, भारत के गीत गाओ;
हँस बेड़ियाँ बजाओ, दुखिया के दुःख टारो।

"वाह सभापति जी ! वाह ! क्या आपने हमें यहाँ प्रीजन के पिंजड़े में अथवा कारागार के कठहरे में बन्द करने को बुलाया है ? भाड़ में जाय भारत और आग में झुँके आजादी । अजी जनाब ! हम यहाँ कौम का उद्धार करने आये हैं या काव्य-कानन में कुदकने-फुदकने ? याद रहे, अगर किसी 'सी० आई० डी० वाले ने सुन लिया तो बची-खुची स्वाधीनता भी नष्ट हो जायगी, लेने के देने पड़ जायँगे ! हमें इस बकवाद की जरा भी जरूरत नहीं है। अपने राम तो आशियाने में पंख पसार कर सोते और आनन्द के बीज बोते हैं ।"

कीर कवि की इस कड़ी कविता को सुनकर व्योम-विहारी गरुड़देव को भी गुस्सा आया। उन्होंने 'लायलटी' पर लम्बा लेक्चर झाड़ते और क्रोध से मुँह फाड़ते हुए कहा—"कविवरो ! तुम्हे व्यर्थवाद से क्या ? हिन्दुस्तान के आजाद होने न होने से तुम्हारा क्या प्रयोजन ? तुम तो अपने उद्यान में अब भी स्वाधीन हो, और आगे भी रहोगे। अगर तुम्हारा अभिप्राय खमण्डल में खलबली मचाना है, तो याद रखो मैं खगराज हूँ, ऐसा कभी न होने दूँगा। क्या तुम मेरा साम्राज्य छीनना चाहते हो ? धिक्कार है तुमको, और तुम्हारे विचित्र विचार को ।"

सभापति श्री गरुड़जी के इतना उच्चारते ही चारों ओर से 'छिमान महाराज !' 'छिमान महाराज !' की आवाज आने लगी। कीर कवि ने भी हकीर होकर आपसे क्षमा-याचना की ।

तदनन्तर सभापति जी के आदेशानुसार सांग-सनेही कविवर कुलंग जी खड़े हुए। आपने कड़ाके की आवाज में झड़ाके से अपना अद्भुत आलाप आरम्भ किया—

बड़ों की बात बड़ी है, घड़े में पड़ी घड़ी है।
है उरदल कहा विचारो, भयो जो आगे ढारो ॥

न देखो रूप हमारो--
और मार देहु मर जाहि ताहि; डर जाहि न हिम्मत हारो--
धिनाधिन ताक् थेई था !

कुलंग कवि की करारी कविता सुनते ही सभा में सन्नाटा छा गया। उपहार में पैजनियों के पुलन्दे पड़ने लगे, 'वाह-वाह' की धूम मच गई। 'वंसमोर' का शोर होने लगा। एक-एक पंक्ति अनेक बार सुनाई जाने लगी। सभापति जी सोचने लगे, कहीं इस घोर वीर-रस की कविता से उत्तेजित होकर कोमल-काय कवि कुमार आपस ही में सिर-फुटौवल न कर डालें। अतएव आपने कुलंग कवि को अधवर ही में बैठा दिया, जिससे सुहृदय काव्य-मर्मज्ञ उनकी क्रान्तिकारिणी कविता सुनने के लिए मुँह बाये रह गये।

इसके बाद 'पर-उपदेश कुशल कवि' कारण्डव जी अपनी कविता-कौमुदी की अपूर्व छटा छिटकाने के लिए खड़े हुए। आप बहुत देर से व्याकुल बैल की तरह रस्से तुड़ा रहे थे। आज्ञा किसी और कवि को दी जाती थी, उठ आप खड़े होते थे! खैर, अबकी बार राम-राम करके आपका अवसर आ ही गया। कारण्डव जी ने करताल कर में लेकर मूँछें मरोड़ते, आँखें सिकोड़ते और तान तोड़ते हुए साफे को सँभाल-सँभालकर, ऊँची आवाज से, नीचे लिखी कविता कथ कर सुनाई—

धरम के कारणें जी, भाईयो ! तन मन धन सब दे दो।
रच्छा करो धरम की धुनते धरम बड़ो है भाई !
धरम के कारण धरमदत्त ने देखो जान गँवाई ॥
धरम के कारणें जी... ... ... ... ... ... ...
धरम धरम की धूम मचाओ, धरम-धुजा फहराओ।
धरम ओढ़ लो, धरम बिछा लो, धरमो सब बन जाओ।

धरम के कारणें जी, धरम के कारणें जी—
धरम के कारणें जी; भाईयो ! तन-मन-सब दे दो ॥

कवि कारण्डव जी अभी अपनी भूरि भावभरित कविता की दो-तीन कड़ियाँ पढ़ ही पाये थे कि लोग सर से साफा बाँध, मोटा सोंटा ले, गले में गुलूबन्द लपेटकर धर्म पर बलिदान होने को आ खड़े हुए ! 'जीवन-दान', 'जीवन-दान' की आवाजें आने लगीं। धन्य-धन्य की धूम मच गई। सभापतिजी ने भी कारण्डव जी की चोंच चूमकर स्पष्ट शब्दों में कहा—"भाई, बस, इस आधुनिक युग में आप ही एक कामयाब कवि हैं। विराजिए, इस समय शीघ्रता है। आपकी "पद्य-पाढ़न्त" के लिए तो पूरे पाँच घंटे दिये जायँ तब कहीं श्रोतृ-समुदाय की संतृप्ति हो। ओ हो ! आपकी कविता क्या है, 'फायर ब्रिगेड' का इंजिन या तूफान ट्रेन का भोंपू है। धर्म, जिस पर जगत् स्थिर है, उसके आप जैसे परम प्रवीण प्रचारक धन्य हैं।"

कवि कारण्डव की 'कुकड़ूँ कूँ' समाप्त होते ही घटना घन-घमण्ड घोंघा-घुग्घू घासलेटानन्दजी अपनी अकड़ में घोर घोषणा करते हुए, उसी प्रकार बिना बुलाये पञ्च बन मञ्च पर आ आरूढ़ हुए जिस प्रकार 'साइमन-सप्तक' भारत के भाल पर आ धमका था। सभापति श्री गरुड़देवजी ने गुस्से से गुर्राते हुए कहा—"अच्छा ! पढ़िए, पहले आप ही पढ़िए।" तब श्री घासलेटानन्द ने अगाई-पिछाई तोड़ और कुण्डे-कुण्डी फोड़कर, साहित्य-क्षेत्र का सुविस्तीर्ण मैदान मार, महा मोद मनाते हुए, नीचे लिखा सरल आलाप करना शुरू किया—

गोविन्द-भवन की कथा सुनो, वेश्याओं के अड्डे-देखो,
लो लोट 'लाटरी' के लुटते, बाजारों में सट्टे देखो।
लड़कों पर प्यार करें टीचर, वह चाकलेट चरचा सुन लो,
विधवा व्यभिचार-प्रचार करें, सो सुनो शोक से सिर धुन लो।

× × × ×

हाँ एक एक करके तुमको सब विस्तृत बात बताता हूँ।
परदे में पाप करें कैसे ? सो सब तुमको समझाता हूँ ॥

श्री घासलेटानंदजी की अभी भूमिका भी समाप्त नहीं हुई थी कि काक, कंक, कारंडव, कीर आदि कवियों ने कोपपूर्ण 'काँव-काँव' करनी शुरू कर दी। "नहीं, हम यहाँ ऐसी विचित्र विधि सुनना नहीं चाहते। घासलेटानंदजी, बैठ जाइए। इस सारहीन सिखावन से संसार को बख्शिए।" इसके विपरीत दूसरे कवियों ने कहा—"कहिए, कहिए, जरूर कहिए। बराबर सिलसिला जारी रखिए। जाति-जाग्रति का जतन जितनी जल्दी जनता को जताया जाय उतना ही अच्छा है। कहिए, कहिए, घासलेटानन्दजी, कहिए" की आवाजों ने कविवरजी का नाक में दम कर दिया। वे 'हाँ'-'ना' की खींचातानी में 'त्रिशंकु' की तरह बीच ही में लटक गये। युगल चुम्बक के मध्य में पड़ी सूई की तरह सिटपिटाने लगे !! अड़ें या बढ़ें, हटें, या डटें चहकें या बहकें, जमें या रमें, उन्हें कुछ सूझ न पड़ा। अन्त में श्री सभापति के आदेश से आप अधवर ही में बैठ गये और विरोधियों की बुद्धि पर बड़बड़ाते हुए अपनी अक्ल की तारीफ करने लगे।

इतने कवियों की कविताएं सुनी जाने के बाद 'टकापंथ प्रवर्त्तक' कविवर कुक्कुटराज काव्य-कानन में कूदे। आपके 'कुकड़ूँकूँ' करते ही जनता ने हर्ष-ध्वनि की और उत्सुकता के साथ वह उनके मुख की ओर देखने लगी। कुक्कुट कविजी 'बहर-ए-तबील' में बुलन्द बाँग देते हुए बोले—

वोट दे दो रे ! भाई भिखारीमल को !
लोगों की बातों में हरगिज न आओ,
खद्दर न पहनो, न जेलों में जाओ,

है चुंगी चुनाव चलो कल को,
वोट दे दो रे ! भाई भिखारीमल को।
बढ़ बढ़ के लाला ने दावत खिलाईं,
कोठी, हबेली, दुकानें बनाईं
सीधे हैं, जाने न छल बल को।
वोट दे दो रे ! भाई भिखारीमल को॥

अहा ! कुक्कुट कवि की इस परोपकारवृत्ति पर सब कवियों ने साधुवाद की सिल सरकानी शुरू कर दी। 'मरहबा' की मटकिया फोड़ दी और वाह-वाह की बाँह तोड़ दी। धन्य है, ऐसे अशरण-शरण कविराज ! देखिए न, सेठजी के लिए, आपके दराज दिल-दालान में कैसे-कैसे प्रेम के पीपे भरे पड़े हैं। वाह ! वाह !!

इसके अनन्तर सभापति ने कविरत्न क्रौंचजी से कविता सुनाने को कहा। परन्तु वह बोले—"जब तक मेरे लिए आनंद-पूर्वक आसीन होने को विशुद्ध व्यास-गद्दी न दी जायगी, तब तक मैं अपनी कथा कदापि नहीं सुना सकता। हाँ, हारमोनियम और तबले की व्यवस्था करनी होगी।" सभापतिजी ने बात की बात में सब समुचित प्रबंध कर दिया। तब कविजी ने ऊँची आवाज से नीचे लिखी कविता गाकर सुनाई—

तब बोले साधु सुबुध, सुनो सभी धर ध्यान।
कथा आज की का विषय, है अध्यातम ज्ञान॥
संसार दुखों का सागर है, आओ मिल हम स्वर्ग चलें।
सानंद रहें नन्दन वन में, लखि लखि हमको सब हाथ मलें॥
हम धर्म-ध्वजा की धज्जी हैं, उपकार-'कार' के 'टायर' हैं।
कविता कुर्सी के पाये हैं, सारंगी के सब "वायर" हैं॥
सब उठो बाँध लो बस बिस्तर, उस अमरपुरी को जाने को।
तुलसी, केशव और सूर जहाँ, आवेंगे हाथ मिलाने को॥

क्रौञ्च कवि की कविता सुनकर लोग मारे क्रोध के काँपने लगे। "आया कहीं का कठमुल्ला ! हमें स्वर्ग ले जाना चाहता है। अरे, पहले इस दुनिया का आया-गया तो देख लें, यहाँ तो विजय का बैण्ड बजा दें, तब कहीं स्वर्ग-नरक का नम्बर आवेगा। धिक्कार ! धिक्कार ! ऐसी कातिल कविताओं की जरूरत नहीं है। सभापतिजी, बन्द कीजिए। इस वैराग्य के विषैले विषधर को बिल में ही बिलबिलाने दीजिए। उपरामता के उजबक उल्लू को प्रतिभा के प्रकाश में न आने दीजिए।"

बूढ़े सभापति को क्रौञ्च कवि की कथा में बड़ा आनन्द आया। आपने बार-बार चोंच चलाई और गर्दन हिलाई। परन्तु जनता के वैराग्य-विरोधी होने के कारण क्रौंचजी की मुख-मढ़ी पर मजबूरन १४४ लीवर का ताला ठोंक देना पड़ा।

इस समय सभापतिजी ने कहा—"महाशयो, वक्त अधिक हो गया है, इसलिए कविवर कोकिलकुमार और कुल्लूक कविराज इन दो कवियों को अपनी अपनी कविताएँ सुनाने का और अवसर दिया जायगा। बस, फिर पदक-पुरस्कार की सूचना देकर सम्मेलन समाप्त हो जायगा। अब 'प्रतिबिम्ब पन्थी' काव्य-कानन-केसरी कवि कोकिलकुमारजी अपनी कविता सुनावें और अपने काव्य-कल्पतरु की छबीली छाया में सारे सभ्य-समाज को सुख पहुँचावें।" कोकिलकुमारजी ने अपनी निगूढ़तम रुचिर रचना को सुनाते-सुनाते सब लोगों को अज्ञेयवाद वारिधि में डुबकी लगाने का आनंद प्राप्त कराया। कोकिलकुमारजी ने अपटूडेट फैशन की फबीली फसाहत के फन्दे में फँसकर नीचे लिखी अलौकिक कविता पढ़ी—

विरद वाद्य मृदु मंद अचलता के दृगता-अंचल में,
सुस्मित मत विस्मृत बाला के अनुनय अन्तस्तल में,

अभिधा की अनंत आभा में सविधा के साधन में,
विभावरी, आभरी, अनिलभा के उदोत आनन में,
× × × ×
सुरति सदय सन्दर्भ सुसंयत नथ नवधा नागर में,
विश्व-विमोहन विपुल व्यथा के प्रभुता पांशु पगर में,
वरद विभा के वक्षस्थल में मृग-मरीचिका पट पर,
तरुणी के घटना-घूँघट पर तरंगिणी के तट पर,
× × × ×

कवि कोकिलकुमार की दार्शनिकता देख सारे सभासद दङ्ग रह गये। सब लोग अपनी अड़ियल अक्ल को धिक्कारते हुए उनकी पुण्य पंक्तियों की प्रशंसा करने लगे। 'धन्यवाद' के धुँगार और 'वाह' 'वाह' के बघार से सारा समाज सौरभित हो उठा।

सभापति गरुड़देवजी तो इस कविता के परम दार्शनिक तत्त्व को समझने के लिए समाधि लगा गये। परन्तु तो भी यह नितान्त निगूढ़ 'रहस्य' उनके महा मस्तिष्क में नहीं आया। यहाँ तक कि उनकी पर्याप्त प्रतिभा पर उनके आध्यात्मिक अर्थ की 'छाया' भी न पड़ी। अन्त में आप निराशावाद के वायु में बहकर आगे बढ़े और "खैर" कहकर श्री कुल्लूक कवि से पद्य-पाठ के लिए प्रार्थना की।

कुल्लूक कविजी अपनी कलम-कटारी और स्वच्छन्दता की आरी लेकर कविता-कामिनी के कलित कलेवर की ओर झपटे। वह बेचारी बलात्कार से बचने के लिए त्राहि-त्राहि करने और बिना आई मरने लगी। करुणा का सागर उमड़ उठा और दयालुओं का दिल घुमड़ उठा। अस्तु, सबसे प्रथम कविवर कुल्लूकजी ने जनता को नीचे लिखा स्वच्छन्द छन्द सुनाकर दोनों हाथों से 'वाह-वाह' बटोरना शुरू की। आप अपनी अद्भुत शान में बोले--

खटूवा !

ओहो ! चतुष्पदी, निष्पदी तथा--
निर्भ्रान्त, अलक्षिता; एवम् सापेक्ष सत्ता, सुरम्या
महत्त्वयम-'मत्कुण' सेविता
'तक्षा' एवम्--
रथकार............शयनाधिकार-संयुक्ता
सम्पृक्ता——सुकीर्त्तिता !
सुधीन्द्र, 'रज्जु'—रसरी !
रता-नता; एवम् 'अवनता' !!!

कुल्लूक कवि की बदन-बाँबी से क्रांतिकारी कविता काकोदरी के निकलते ही सारे कवि-समाज में आनन्द की आँधी आ गई ! प्रसन्नता का पुल टूट पड़ा ! साधुवादों का पजावा लग गया ! "वाह ! कुल्लूकजी, क्या कहते है ? आपने तो छन्द-छैला की छाती में छुरी भोंक दी, पिंगल के पिटारे पर पत्थर पटक दिये, अलंकार अलबेले की अँतड़ियाँ निकाल लीं, रस में राख मिला दी और भावों को भट्टी में भून दिया ।"

बड़ा ऊधम मचा, पार्टीबन्दी के पटाखे और गुट्टबाजी के गोले छूटने लगे। वाग्बाणों की वर्षा तथा विरोध के बवंडर ने नाक में दम कर दिया

सभापति श्री गरुड़देवजी इस काव्य-विप्लव को देखकर दङ्ग रह गये। कुल्लूक कवि की कविता हुई या विद्रोह की बारूद जल उठी ! इसे कवि-सम्मेलन कहें या 'अनारकी' का अड्डा ? सहृदयता है या संगदिली ? शान्त ! शान्त ! मित्रो, शान्त ! सज्जनो, शान्त ! देखो,—कवि-सम्मेलन में कविता-कामिनी पर अत्याचार न करो। इस अनाथ अबला को अपने आवेशपूर्ण कोप-कुल्हाड़े का दुर्लक्ष्य न बनाओ। ठहरो, सुनो। मैं अपना अन्तिम भाषण समाप्त कर पदक-पुरस्कार की घोषणा करता हूँ—

"कविराज कंकदेव, कविरत्न क्रौंच तथा कविवर कारण्डव जी की कविता सर्वोत्तम रही। इन्हें रत्नजटित हारों की लड़ियाँ तथा स्वर्णमय पैजनियाँ प्रदान की जायंगी। अब सब को धन्यवाद देकर सभा विसर्जित होती है।"

सभापति की उपहार-घोषणा सुनकर चारों ओर से "और हम?" "और हम?" का तूफान उठ खड़ा हुआ। इतने कवियों में से केवल तीन! ऐसा अत्याचार! इतना अन्धेर! यह जुल्म! पकड़ लो पक्षपाती प्रेसीडेण्ट को, मारो मनहूस को, फोड़ दो खोपड़ी, तोड़ दो तोमड़ी। आया कहीं का साहित्य-सिरकटा! देखो भागा, भागा, दुम दबाकर भागा, मुँह छिपाकर निकला--पकड़ो, दौड़ो, निकल न जाय, उड़ न जाय, कचूमर निकाल दो। क्या हमने कविताएँ नहीं सुनाईं? हमने दिमाग का सेरों खून खर्च नहीं किया? क्या हम 'कवि' नहीं हैं? हमको पुरस्कार क्यों नहीं? मारो, मारो, देखना, कहीं भाग न जाय। भागा, पकड़ो, पकड़ो।

निदान इस समय कवि-सम्मेलन में ऐसा धूम-धड़ाका हुआ, ऐसा शोर-सनाका मचा, इतना तूफान-ए-बेतमीजी उठा कि अपने राम की निद्रा टूट गई। सारा स्वरमय साहित्य-संसार नष्ट हो गया। अदृश्य जीवन के छायावाद के बदले दृश्यमान जगत् का जड़वाद दिखाई देने लगा। कवि-कारण्डवों की कल्पना-कुरंगी की कुलाचों के स्थान पर दुरंगी दुनियाँ सामने आ गई। उठा, शौच-बाधा से निवृत्त हुआ, कलेवा किया और अपने काम में लग गया।

# रिपोर्ताज

[डा० रामविलास शर्मा]

फ्रान्सीसी भाषा के और बहुत से शब्दों में जो अँगरेजी ही नहीं, योरुप की और दूसरी भाषाओं में भी प्रचलित हो गये हैं, यह एक शब्द रिपोर्ताज भी है। इसकी शक्ल और सूरत अँगरेजी के रिपोर्ट शब्द से मिलती-जुलती है जो हिन्दी में आकर सीधा रपट हो गया है। रिपोर्ट ज्यादातर अखबारों के लिए लिखी जाती है, रपट ज्यादातर पुलिस या दूसरे सरकारी अफसरों के लिए। यह सभी लोग जानते हैं कि रपट में नमक-मिर्च इतना होता है कि वस्तु-तत्त्व उसकी तेजी से निस्तत्त्व हो जाता है। अखबारी रिपोर्टों में वस्तु तत्त्व का बिलकुल अभाव तो नहीं होता, फिर भी काफी चरफरापन न हो तो लोग अखबार पढ़ना छोड़ दें। रिपोर्ताज, रिपोर्ट का ही साहित्यिक रूप है लेकिन उसका अन्तःकरण साहित्य की श्रेणी में आने से शुद्ध होता है।

किसी घटना या घटनाओं का ऐसा वर्णन करना कि वस्तुगत सत्य पाठक के हृदय को प्रभावित कर सके, रिपोर्ताज कहलायेगा। कल्पना के सहारे कोई रिपोर्ताज-लेखक नहीं हो सकता। इसे लिखने की कला इस महायुद्ध में विशेष रूप से विकसित हुई है। साहित्य का यह सबसे लचीला रूप है जिसकी सीमा एक पृष्ठ से लेकर कई सौ पृष्ठों की मोटी पुस्तक तक हो सकती है। वर्तमान पत्र-कला से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। पत्रों में जैसे लम्बे उपन्यास नहीं छप सकते, वैसे ही उनमें बहुत लम्बी रिपोर्ताज भी नहीं छप सकती। इसकी सीमाएँ कहानी और निबन्ध

से मिलती-जुलती है और इन दोनों से इसका भावात्मक सम्बन्ध है। रिपोर्ताज में जब तक एकाध छोटी कहानी न हो, वह काफी रोचक नहीं होता। परन्तु कहानी ज्यादातर एक ही घटना को लेकर चलती है और उसी को केन्द्र मानकर पात्रों का चरित्र अंकित किया करती है। रिपोर्ताज में एक से अधिक घटनाएँ हो सकती हैं, लेखक का लक्ष्य इनके सम्मिलित प्रभाव की ओर रहता है। वह कहानीकार की तरह किसी समस्या को लेकर नहीं चलता और न कहानी के अन्त में समस्या के विचित्र समाधान से पाठकों को आश्चर्य में डाल देना चाहता है। वह लेख के आरम्भ से ही छोटी छोटी बातों की ओर यों ध्यान आकर्षित करता है कि इन सबसे मिलकर एक बृहत् चित्र बन सके। चरित्र-चित्रण के लिए कहानीकार के पास कम जगह होती है, रिपोर्ताज-लेखक के पास तो और भी कम। वह रेखा-चित्रकार की तरह ब्रुश के इशारे से चित्र को उभारकर आगे बढ़ चलता है। उसे इस बात की पूर्ण स्वतंत्रता है कि वह अपने लेख को घटना-प्रधान बनाये या चरित्र-प्रधान, वह इसमें नाटकीयता का ज्यादा पुट दे या गीतात्मकता का। उसके लिए सबसे ज्यादा जरूरी बात यह है कि वह जिस बात पर कलम उठाये, उसे खुद अपनी आँखों और कानों से देख-सुन चुका हो।

यदि हम अखबार लेकर पिछले कई महीनों की घटनाओं पर एक भावपूर्ण निबन्ध लिख डालें, तो वह रिपोर्ताज न होगा, वह रिपोर्ट भले ही हो। आँखों से देखने पर भी यदि केवल वस्तुगत सत्य का शुष्क वर्णन हुआ तो भी उसे रिपोर्ताज न कह सकेंगे। जो पत्रकार सिर्फ रिपोर्ट लिखना जानते हैं वे रिपोर्ताज-लेखक नहीं हो सकते। जो लेखक घर में बैठे कल्पना के सहारे साहित्य रचा करते हैं, उन्हें भी इस ओर सफलता पाने के लिए अपना पुराना क्रम छोड़ना पड़ेगा। रिपोर्ताज-लेखक के लिए जरूरी है, कि

वह आधा पत्रकार हो और आधा कलाकार हो। वह अपने चारों ओर के गतिशील जीवन की वास्तविक घटनाओं का इतिहास-कार है। इसलिए वह अपना काम घर में बैठे बैठे नहीं कर सकता।

जिस देश में लेखकों को इतनी सुविधा होगी कि वे अपनी इच्छानुसार जहाँ-तहाँ भ्रमण कर सकें और जो कुछ लिखें, उससे उन्हें जीविका के लिए काफी पैसा भी मिल सके, वहीं इस तरह के साहित्य का विशेष रूप से विकास हो सकता है। सोवियत रूस में प्रकाशन का कार्य पूँजीपतियों के हाथ में नहीं है, इसलिए लेखकों को अपनी रचनाओं से जीविका के लिए काफी पैसा ही नहीं मिल जाता बल्कि समाज के दूसरे लोगों की अपेक्षा ज्यादा धन भी मिल जाता है। वे अपनी आवश्यकताओं के अनुसार जहाँ चाहें भ्रमण कर सकते हैं, और अपने अनुभव के बल से सजीव साहित्य लिख सकते हैं। पिछले महायुद्ध में सोवियत लेखकों ने कलाकार के उत्तरदायित्व को कितना समझा और कितना निबाहा, यह उनके साहित्य से प्रकट है। लड़ाई का कोई ऐसा मोर्चा नहीं था जहाँ लेखक भी न पहुँचे हों। पत्रकारों को जाने दीजिए। जाने माने लेखक साहित्य की प्रेरणा के लिए मोर्चे पर पहुँचते थे। साहित्य के जिस रूप का इन्होंने सबसे ज्यादा विकास किया, वह था रिपोर्ताज। इलिया एरनबुर्ग ने लेखकों की कठिनाइयों का जिक्र करते हुए लिखा है कि सजीव साहित्य की रचना के लिए उन्हें मुसीबतों का जरूर सामना करना पड़ता है। लेकिन उन्हें याद रखना चाहिए कि लाल फौज के सिपाहियों को मुसीबतों का ही नहीं, मौत का सामना भी करना पड़ता है। इसमें सन्देह नहीं कि कई सोवियत लेखकों ने साहित्य को अपने प्राणों से भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण समझा और दूसरे सिपाहियों की तरह वे अपने मोर्चे पर डटे रहे। कई

लेखकों की जानें भी गई परन्तु उन लोगों ने जो रिपोर्ताज लिखे हैं, उनमें महायुद्ध का सजीव साहित्य और इतिहास दोनों है।

लेनिनग्राद् पर महीनों तक बम-वर्षा होती रही लेकिन वृद्ध लेखक तिखोनेव ने शहर छोड़ने का नाम नहीं लिया। सर्दी के दिनों में वह बर्फ से ढके हुए मैदानों में लेनिनग्राद् के वीर नर-नारियों के आत्मरक्षा के प्रयत्न देखता था। उसने इन सबके अमर चित्र अंकित किये हैं। सबसे ज्यादा रिपोर्ताज लिखने का श्रेय इलिया एरनबुर्ग को है। महायुद्ध में वह सोवियत संघ का सबसे लोकप्रिय लेखक रहा है। उसके लेखों से मालूम होता था कि वह लाल फौज के साथ आगे बढ़ रहा है और उसके प्रभावपूर्ण शब्द सैनिकों की ही ललकार हैं। ऐसे तीव्र व्यंग्य का लेखक कम से कम पिछले दस वर्षों में दूसरा नहीं हुआ। दर्जनों भाषाओं में उसके लेख अनुवादित हुए हैं और सोवियत संघ में तो वे न जाने कितने पत्रों में छापे जाते थे और कितने रेडियो स्टेशनों से विस्तार किये जाते थे। अभी हाल में एरनबुर्ग अमेरिका गया था। वहाँ के जीवन के जो शब्दचित्र उसने दिये हैं, वे इतने मनोरंजक हैं कि उन्हें संसार के पचीसों दैनिक पत्रों ने छापा था। वह एक महान् उपन्यासकार भी है और अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'पेरिस का पतन' के लिए उसे सोवियत संघ का सबसे बड़ा पुरस्कार मिल चुका है। इस उपन्यास में रिपोर्ताज-लेखक की छाप मौजूद है और उसकी सजीवता का यह भी कारण है कि एरनबुर्ग ने आँखों देखी घटनाओं का वर्णन किया है।

अन्य सोवियत उपन्यासकारों में भी ऐसा ही प्रभाव दिखाई देता है। यह कोई अचरज की बात नहीं है कि बहुत से लेखक ऐसे हैं जिन्हें उपन्यास और रिपोर्ताज लिखने में समान रूप से

सफलता मिली है। वासिली, ग्रोसमन, वान्दा, वासीलेवस्का, सिमोनोव, शोलोखोव आदि के उपन्यासों में पचीसों ऐसे टुकड़े हैं जिन्हें निकालकर अलग छाप दें तो वे रिपोर्ताज के बड़े अच्छे उदाहरण मालूम होंगे। इन्हीं में ऐसे लोग भी हैं जिन्होंने जलते हुए स्तालिनग्राद् और वोल्गा पर उसकी लाल छाया के अमर चित्र अंकित किये हैं। ग्रोसमन और सिमोनोव ने अपनी वर्णनात्मक शैली से रूस के पुराने लेखकों की परम्परा को सुरक्षित रखा है। इनके छोटे लेखों में भी वह 'एपिक टच' है जो गोर्की और तोल्सतोय में मिलता है। इनमें घटनाओं की नाटकीयता, साधारण पात्रों की असाधारण वीरता आदि के चित्रों में सोवियत जनता के दृढ़ निश्चय, उसके उत्साह और बलिदान का चित्र मिलता है। किन कठिनाइयों में यह लोग अपने साहित्य की सामग्री एकत्र करते थे, इसका परिचय यूजिनी क्रीगर के एक रिपोर्ताज का अंश उद्धृत करने से मिल जायगा। स्तालिनग्राद् से चलते हुए उसने एक घटना का वर्णन किया है:—

"स्तालिनग्राद् के घेरे का प्रभाव मेरे मन में एक बूढ़े मल्लाह के कारण अमिट बन गया है। घटना रात को हुई थी। न अब किसी को उसकी सूरत याद है, न उसका नाम मालूम है। नाव के ऊपर एक बम फूट पड़ा। उस पर जितने लोग बैठे थे, वह सब नदी में लुढ़क पड़े। एक नौजवान लैफ्टिनैण्ट भारी लबादा पहने था। उसके बोझ से वह डूबने लगा। बूढ़े मल्लाह ने उसका कालर पकड़ लिया और तेजी से अपना 'लाइफ-वेल्ट' उसके सामने बढ़ा दिया। 'लो, इसका सहारा लो'--उसने कर्कश आवाज में कहा। लैफ्टिनेण्ट चुपके से बह जाने की कोशिश करने लगा। बूढ़ा मल्लाह चिल्लाया, 'अरे बेवकूफ, मेरी बाँह तो टूट गई है। अब बूढ़ा हो गया हूँ, जो कुछ करना था कर चुका, अब तेरी बारी है। यह लाइफ-वेल्ट ले और शहर के लिए लड़।' वह

लाइफ-बेल्ट छोड़कर एक हाथ से तैरता हुआ दूसरी तरफ को निकल गया और रात के अँधेरे में खो गया।"

इस उद्धरण से रिपोर्ताज-लेखक का उत्तरदायित्व और उसकी कठिनाई का परिचय मिल जाता है। वीरों का वर्णन करने के लिए थोड़ी वीरता लेखक में भी होनी चाहिए, नहीं तो वह रीतिकालीन कवियों की वीरगाथा ही लिख सकेगा।

इस महायुद्ध के समय और उसके बाद भी हमारे देश में बड़ी-बड़ी लोमहर्षक घटनाएँ हुई हैं। बंगाल के लाखों स्त्री-पुरुषों ने जान से हाथ धोये। इस विभीषिका के अनुकूल हिन्दी में प्रभावपूर्ण रिपोर्ताज नहीं लिखे गये किन्तु जो लोग वहाँ गये थे, उन्होंने साहित्य को एक स्थायी निधि दी है। चटगाँव के बारे में उर्दू के प्रसिद्ध कवि अली सरदार जाफरी ने एक सुन्दर रिपोर्ताज लिखा था। अकाल और युद्ध से फायदा उठाकर ठेकेदारों ने मानवता के साथ कैसा वीभत्स खिलवाड़ किया था, इसका रोषपूर्ण चित्रण अली सरदार ने किया है। अकाल के समय प्रसिद्ध बंगाली चित्रकार चित्तप्रसाद चटगाँव गये थे। थोड़े से शब्दों में उन्होंने जनता की नारकीय यातनाओं का दृश्य उपस्थित कर दिया है। उसका एक अंश हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

"मैंने उस स्त्री से उसका नाम पूछा तो वह फूट-फूटकर रोने लगी। हिचकियों के बीच में कभी-कभी कुछ शब्द भी उसके मुँह से निकल रहे थे, पर इतने धीमे कि उन्हें सुनना असम्भव था। उसके बदन पर कपड़े की एक धज्जी भी नहीं थी। पास खड़े एक आदमी ने बताया कि वह मौयशखाली गाँव के एक मुसलमान किसान की पत्नी है और अब पागल हो गई है।

"कौक्स बाजार में आधे दरजन से अधिक गुप्त रंडीखाने हैं। उनके ठेकेदारों के दलाल गिद्ध की तरह शहर की सड़कों पर

निराश्रित स्त्रियों की तलाश में घूमते रहते हैं। किसान स्त्रियाँ जब मजूरी करके अपना पेट नहीं भर पातीं तो इनमें से किसी के फंदे में पड़ जाती हैं और कुछ दिन बाद इस हालत में पहुँच कर रंडीखाने से निकलती हैं।"

"पास बैठा बच्चा अनाथ है। बाप मछुआ था, पिछले अकाल में मर गया। जब माँ उसका पेट न पाल सकी तो वह भी उसे बाजार में छोड़कर कहीं चली गई।"

रिपोर्ताज लिखने के लिए जनता से सच्चा प्रेम होना चाहिए। वैसे तो साहित्य के सभी रूपों के लिए यह शर्त है लेकिन रिपोर्ताज के लिए वह और भी जरूरी है। जिन्होंने अकाल और महामारी की चिंता न करके जनता के बीच में जाकर उसके दुख-दर्द की सही तस्वीर खींचना साहित्य का ध्येय समझा है वही अच्छे रिपोर्ताज लिख सके हैं।

अकाल और युद्ध के बाद सारी दुनियाँ के साथ हिन्दुस्तान भी बदला है। अब लोग सड़कों पर भूख से तड़प कर जान नहीं देते। वे सड़क पर आकर मजबूत मुट्ठियाँ बाँधकर साम्राज्य-वाद को चुनौती देते हैं। बम्बई में जहाजी सैनिकों ने विद्रोह किया और सन्'५७ के बाद पहली बार तोपों का मुँह दूसरी तरफ घुमाया गया। आजाद हिन्द फौज के लिए विराट् प्रदर्शन हुए और उनमें जनता ने गोलियों का सामना किया। काश्मीर के विद्रोह ने देशी राज्यों की जनता को आजादी का रास्ता दिखाया। इसमें संदेह नहीं कि आज देश में क्रांतिकारी परिवर्तन हो रहे हैं।

दुनियाँ के लिए क्रान्ति अब कोई नई चीज नहीं रह गई। अन्य देशों में इसके जो लक्षण देखे गये थे, वे आज हमारे देश में भी हैं। हिन्दी के साहित्यकार इस विद्रोही जनता के साथ बढ़कर ही अपने साहित्य की गौरव-पूर्ण परम्परा की रक्षा कर सकते हैं। जहाजी सैनिकों के विद्रोह पर उर्दू के प्रसिद्ध लेखक कृष्णचन्द्र

ने गुण्डा नाम की सुन्दर कहानी लिखी थी। अनेक घटनाओं और वर्णन की प्रधानता होने से इसका रूप कहानी से अधिक रिपोर्ताज का है। आज तो इस तरह के वीरतापूर्ण कार्य हर शहर और देहात में देखने को मिलते हैं। 'कला कला के लिए' की रट छोड़कर साहित्य को जीवन से संबंधित करने का यही तरीका है कि लेखक आज के विद्रोह के इतिहासकार बनें। उनकी कला के लिए क्या सम्भावनाएँ हैं, वे अपने देश के प्रति किस तरह अपना कर्तव्य निबाह सकते हैं, इसका एक उदाहरण देकर हम यह लेख समाप्त करते हैं।

गुलाम मुहीउद्दीन काश्मीर की राष्ट्रीय कान्फ्रेन्स की सैनिक समिति के अध्यक्ष हैं। राज्य की ओर से उन्हें पकड़ने के लिए काफी बड़ी रकम इनाम के लिए घोषित की गई है लेकिन वह जनता में छिपे हुए फरार का जीवन बिता रहे हैं। फरारी की हालत में भी उनकी कलम चलती जाती है और वह देशवासियों को विद्रोही काश्मीर के प्रति उनके कर्तव्य की याद दिलाते हैं। 'जख्मियों की आवाज' से हम एक अंश देते हैं—"और उस बच्चे की आँखें तो मैं कभी भूल न सकूँगा। उसका नाम असदुल्ला है। वह अभी पूरे बारह वर्ष का नहीं हुआ था कि काक की एक गोली सीधे उसके सीने में बैठ गई। उसके बदन में अब इतनी शक्ति भी नहीं रह गई है कि वह तकलीफ से कराह सके। वह गरीब माँ-बाप का बेटा है। इसलिए बचपन में खेलने-खाने की उम्र थी तब उसे एक दर्जी के यहाँ नौकर होना पड़ा। घरवालों को उम्मीद थी, असद दर्जी का काम सीख लेगा तो कुछ घर का खर्च सँभालेगा। पर उनकी उम्मीदें पूरी होने के पहले ही डायन डोगराशाही असद के खून की प्यासी हो गई। शेरे-काश्मीर की गिरफ्तारी के बाद श्रीनगर में जो पहली सभा हुई उसी में असद डायन का शिकार हो गया।

"बारह साल का बच्चा था, शायद राजनीति की बातें बिलकुल नहीं जानता था। मगर वह इतना जरूर जानता था कि वह गरीब है, उसके आसपास रहनेवाले तमाम लड़के गरीब हैं और उन्हें भर पेट खाने को भी मयस्सर नहीं होता।

"और वह यह भी जानता है कि अफसर जो लोगों को पकड़ते हैं, और पुलिसवाले जो निहत्थों पर डंडे चलाते हैं, वे उसकी दुनियाँ कभी नहीं बदल सकते।

"असद और उसके जैसे तमाम गरीब और भूखे लड़कों की सारी उम्मीदें बस एक लफ्ज शेरे-काश्मीर के साथ बँधी हैं। वे जानते हैं शेरे-काश्मीर और उसके साथी भी, असद की तरह गरीब हैं, वे भी उन्हीं गलियों में रहते हैं जिनमें असद के माँ बाप रहते हैं, और वह भी वही मोटा चावल खाते हैं जिससे असद के घर पर लोग पेट भरते हैं।

"इसलिए जब शेरे-काश्मीर बोलते हैं, या उनके साथी सभा करते हैं तो असद और उसके जैसे तमाम बच्चे उन्हें सुनने के लिए इकट्ठे होते हैं। उन्हें मालूम है कि उस जुल्म की सजा गोली हो सकती है—पर उससे क्या? काश्मीर में भूखे और गरीब बच्चों की कमी नहीं है।"

इन शब्दों में वही आग है जो हर देशभक्त लेखक के शब्दों में होनी चाहिए। काश्मीर की जनता मुहीउद्दीन के शब्दों से प्रभावित होती है, उनकी देशभक्ति पर विश्वास करती है, निरंकुशता को मिटाकर एक नई दुनिया बसाने के लिए वह बलिदान के लिए तैयार होती है। इसलिए अपनी जान की पर्वाह न करके वह मुहीउद्दीन को अपने बीच में छिपाती है। नये राष्ट्र के नये साहित्य का ऐसे ही निर्माण होता है।

---